पूर्णयोग

श्रीनलिनीकान्त गुप्त

श्रीअरविन्द-ग्रंथमाला
१६ र्‌यू देबासैं द रिश्मों
पांडीचेरी

साङ्ख्यतरङ्गिणी

साहित्याचार्य श्री पण्डित अम्बिकादत्त व्यास
विरचित भाषाटीका सहित साङ्ख्य-
तत्त्वकौमुदी की कारिका।

पीयूषप्रवाह मासिकपत्र से उद्धृत कर के
महाराजकुमार बाबू रामदीनसिंह द्वारा
प्रकाशित।



खड्गविलास प्रेस—बांकीपुर।
साहबप्रसादसिंह ने मुद्रित किया।
१८९१

५०]
[दाम ॥) आना।

प्रकाशकका वक्तव्य

श्रीअरविन्दने अंगरेजी भाषामें योगसम्बन्धी एक बृहत् ग्रन्थ Synthesis of Yoga (योग-समन्वय) के नामसे लिखा है जो अभीतक पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुआ है। इसी ग्रंथके आधारपर श्रीअरविन्द-आश्रम, पांडीचेरीके एक प्रमुख साधक, प्रकाण्ड विद्वान् और लब्धप्रतिष्ठ लेखक श्रीनलिनीकान्त गुप्तने बंगला भाषामें 'पूर्णयोग' नामक पुस्तक लिखी है। इसी पूर्णयोगका यह हिन्दी अनुवाद हम हिन्दी-संसारके सामने रख रहे हैं। इस छोटीसी पुस्तकमें इसके लेखक महोदयने बड़ी खूबीके साथ बहुत स्पष्ट और सरल भाषामें श्रीअरविन्द-योगकी रूपरेखा खींचनेकी चेष्टा की है। इस योगका लक्ष्य क्या है, अन्य प्राचीन योगोंसे इसकी विशेषता क्या है, इसका स्वरूप, कार्यप्रणाली तथा फल क्या है और जिस विज्ञानतत्त्वके अवतरणकी बात श्रीअरविन्द कहते हैं वह क्या वस्तु है इत्यादि प्रायः सभी आवश्यक और उपयोगी बातोंका संक्षिप्त वर्णन इस पुस्तकमें आ गया है। हमारा ऐसा विश्वास है कि श्रीअरविन्द-योगकी साधना करने तथा इस योगके विषयमें प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले सभी लोगोंके लिये यह पुस्तक बड़े कामकी चीज होगी।

विषय सूची

पूर्णयोग

योगका उद्देश्य

मनुष्यके अन्दर जब भगवान्का स्पर्श होता है तब उसे ही योग कहते हैं। यहांपर हम 'भगवान्' शब्दका चाहे जो अर्थ क्यों न ग्रहण करें उससे विशेष कुछ आता-जाता नहीं। केवल इतना ही स्वीकार कर लेना पर्याप्त है कि मनुष्यसे उच्चतर, बृहत्तर विश्वव्यापक अथवा तुरीय कोई एक जागृत सत्ता है। इस तरह भक्तके साथ भगवान्के, अहंके साथ ईश्वरके, जीवके साथ शिवके, आत्माके साथ परमात्माके—यहांतक कि बौद्ध मतका अनुसरण कर संस्कारके साथ शून्यके—बस संयोगको हम योग कह सकते हैं। इसमें मूल बात यह संयोग, यह सम्बन्ध-स्थापन ही है। इसीसे योगसाधनाका आरंभ होता है। परन्तु इस साधनाकी प्रणाली, गति, परिणति इत्यादि सब कुछ इस बात-पर निर्भर करता है कि मनुष्य अपने किस भागमें, किस क्षेत्रमें भगवान्के साथ युक्त हुआ है या होना चाहता है, उसके किस अंगमें भगवान्का स्पर्श हुआ है।

कारण मनुष्य कोई विशुद्ध, अमिश्र, अखण्ड एक वस्तु नहीं है। वह विभिन्न और विपरीत अनेक गुणोंकी

समष्टि है, प्रकृतिके सभी स्तर उसके अन्दर गुंथे हुए हैं, सृष्टिकी सभी धाराएं उसके अन्दर प्रवाहित हो रही हैं। हम यह स्पष्ट रूपसे देख सकते हैं कि प्रधानतः तीन स्तर एकके ऊपर एक उसके अन्दर विन्यस्त हैं। पहला स्तर है देह और देहको संजीवित रखनेवाली जीवनीशक्ति या प्राणशक्ति। दूसरा स्तर है मन, इसी ऊर्ध्वतर क्षेत्रमें बुद्धि, विचार, चिन्तन, भावुकता इत्यादिके खेल होते हैं। तीसरा और ऊर्ध्वतम क्षेत्र है अध्यात्मबोध, जिसका स्वरूप है विज्ञानमय, आनन्दमय—जो अमृतत्वका अधिष्ठान है। वर्तमान समयमें मानव-प्रकृति अभीतक इस आत्माको ज्ञानपूर्वक नहीं पहचान सकी है, उसे अपने मनके खेलके भीतर ही आभास या संकेतके द्वारा इस आत्माका बोध होता है। परन्तु वही सृष्टिका चरम लक्ष्य है। देह और प्राणको लिये हुए जो भाव है वह मनुष्यका पशुभाव है, मन-बुद्धिको लिये हुए जो भाव है वह मनुष्यका मनुष्य-भाव है और तुरीय ज्ञान तथा आनन्दको लिये हुए जो भाव है वह मनुष्यका देवभाव, सिद्धभाव या भागवत भाव है। विवर्तनकी गति पशुभावसे मनुष्यभावमें, और मनुष्यभावसे देवभावमें क्रमशः आरोहण करनेके लिये आरम्भ हुई है। मनुष्यके अन्दर जो शक्ति मनुष्यको पशुभाव और मनुष्यभावसे ऊपर उठाकर देवभावमें स्थापित करना चाहती है उसीका नाम योगशक्ति है और इस उद्देश्य-सिद्धिके लिये जिस मार्गपर चलना होता है,

जिस प्रकारसे जीवनको गढ़ना और चलाना होता है उसीका नाम योगसाधना है ।

भारतवर्षमें जो भिन्न-भिन्न साधनमार्ग प्रचलित हैं, वे भी मनुष्यको इस त्रिधा-भिन्न प्रकृतिके अनुसार विभिन्न स्तरोंमें व्यवस्थित हैं । पहला है हठयोग । हठयोगका क्षेत्र मनुष्यका सबसे नीचेका स्तर—उसका स्थूल शरीर है । शरीर और प्राणशक्तिको केन्द्र बनाकर उसके अन्दर ही भगवान्‌के स्पर्शका अनुभव करना हठयोगका उद्देश्य है । इसके बाद राजयोग मनुष्यके दूसरे स्तरके ऊपर स्थापित है । समस्त मनके द्वारा, मनकी किसी विशेष वृत्ति या खेलद्वारा नहीं, बल्कि मनकी जो मूल प्रकृति है उसी मानस-सत्ता अथवा चित्तके द्वारा राजयोग मनुष्यको साधन-मार्गमें नियन्त्रित और परिचालित करता है । राजयोग मनुष्यके सूक्ष्म शरीरमें केन्द्रीभूत हुआ है । फिर सबके अन्तमें मनुष्यकी आध्यात्मिक वृत्तिके ऊपर प्रतिष्ठित हैं मार्गत्रय—(१) ज्ञानयोग, (२) भक्तियोग और (३) कर्मयोग । ज्ञान, प्रेम और कर्म-प्रेरणा (इच्छाशक्ति—will) ये तीन मनके प्रकरण हैं । इन्हीं तीनोंमेंसे क्रमशः एक-एकके ऊपर निर्भर करके ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग उन्हींकी सहायतासे मनुष्यको भागवत सत्तामें परिणत करना चाहते हैं । मार्गत्रयीका केंद्र न तो मनुष्यका स्थूल शरीर है न सूक्ष्म शरीर, उसका केन्द्र है आत्मा, जीव या पुरुष । ज्ञान, प्रेम अथवा शक्तिके

गई है। जहाँ डाक्टर नहीं हैं, वहाँ हम पड़ोसियों की राय से दवा करने लगते हैं। हम विश्वास कर लेते हैं कि बिना औषधि के यह रोग दूर नहीं हो सकता। अन्य कारणों की अपेक्षा हमें इस कारण से अधिक दुःख उठाना पड़ता है। हाँ, हमारा रोग छूट जाय यह आवश्यक है, लेकिन वह औषधि से नहीं हट सकता, क्यों कभी-कभी औषधि निष्फल ही नहीं वरन् हानिकारक भी सिद्ध हो जाती है। जड़ी-बूटी या औषधियों से रोग को दबा देना ठीक वैसे ही है जैसे कि घर में पड़े कूड़े को ढँक रखना क्योंकि कूड़े को जितना ही अधिक ढँक रखने का हम उद्योग करते हैं, उतना ही वह शीघ्रता से सड़ कर अपना गन्ध फैलाता है। ठीक यही बात रोग को दबाने से भी होती है। अतः बुद्धिमानी यही हो सकती है कि प्राकृतिक ढंग से कूड़े और रोग को साफ किया जाय। रोग द्वारा प्रकृति हमें सूचित करती है कि हमारे अन्दर गन्दगी, जो रोगों का घर है इकट्ठा हो रही है और उसे हमें प्राकृतिक-क्रिया द्वारा हटाना चाहिए; न कि औषधियों द्वारा उसे शरीर के अन्दर ही दबा देना चाहिये। जो लोग औषधियों के द्वारा रोग को हटाना चाहते हैं, वास्तव में वे प्राकृतिक क्रिया को और भी कठिन बनाते हैं। उपवास द्वारा हम प्राकृतिक क्रिया को और भी शक्तिशाली बना सकते हैं। इससे हमारे शरीर में गन्दगी इकट्ठा न होने पायेगी। हम अपने शरीर की अधिकांश गन्दगी खुली हवा में रह कर या शरीर से पसीना निकाल कर साफ कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अपने मन पर अधिकार रखना नितान्त आवश्यक है।

हम प्रायः यह देखते हैं कि यदि घर में एक बार भी औषधि की बोतल का प्रवेश हुआ कि उसकी संख्या और भी बढ़ने लगती है। हम

हमारी साधनाका लक्ष्य हो तो फिर इन सब भिन्न-भिन्न साधनमार्गोंकी परस्पर तुलना करने या उनके गुण-दोषोंका विचार करने, उनका समन्वय करनेकी चेष्टा करनेकी विशेष कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसी अवस्थामें चाहे जिस मार्गको ही क्यों न पसन्द करें, बस एक बार पसन्द करके फिर सीधे उसी मार्गपर बराबर चलते रहनेसे ही अभीष्टसिद्धि हो जायगी। ऊपर उठ जाना ही जब एकमात्र लक्ष्य है तब उपाय चाहे रस्सी हो, बांसकी सीढ़ी हो या पत्थरकी सीढ़ी हो, उससे क्या आता-जाता है?—किसी प्रकार पार होनेसे मतलब। हां, यह बात ठीक है कि भिन्न-भिन्न स्वभाव, भिन्न-भिन्न प्रकृतिके अनुसार कोई मार्ग किसीके लिये सुगम और किसीके लिये दुर्गम होता है। परन्तु इतना विचार कर लेना तो किसी भी साधकके लिये बहुत कठिन नहीं है।

परन्तु जगत्का अर्थ यदि हमारे लिये कुछ और हो, जगत् मोह या दुःस्वप्न नहीं, बल्कि आनन्दमय हो, जगत्को ही यदि हम निःश्रेयसका आधार मानते हों, जीवनको अस्वीकार करके नहीं, वरन् उसका आलिंगन करके ही यदि हम मुक्त, सिद्ध होना चाहते हों तो फिर योगसाधनाकी एक पूर्ण रूपसे नवीन मूर्त्ति हमारे नेत्रोंके सामने प्रस्फुटित हो उठेगी। मनुष्यरूप मंदिरके देवता केवल मंदिरके शिखरपर ही अधिष्ठित हों, ऐसी बात नहीं है और न यही है कि यह मंदिर उस शिखरपर चढ़नेके लिये केवल एक सीढ़ी मात्र हो। इस

मंदिरमें जितनी कोठरियां हैं वे सभी देवताके प्रतिष्ठान हैं, सभी देवताके निवासधाम हैं—सबको एक साथ परिष्कृत, परिमार्जित रखना होगा, सबके अन्दर एक साथ यज्ञकुण्ड प्रज्वलित रखना होगा। शरीर केवल शरीरके परे जानेके लिये ही नहीं है, मन केवल मनके परे जानेके लिये ही नहीं है, ज्ञान, प्रेम और कर्म केवल ज्ञान, प्रेम और कर्मके परे जानेके लिये ही नहीं हैं, व्यक्तित्व केवल व्यक्तित्वको विनष्ट करनेके लिये ही नहीं है। देह, मन और अध्यात्मवृत्ति भगवान्‌को पानेके केवल मार्ग या उपाय ही नहीं हैं। जब हम यह समझ सकेंगे कि केवल शरीरके पीछे ही भगवान् नहीं हैं, शरीर भी भगवान् है; केवल मनके परे ही भगवान् नहीं हैं, मन भी भगवान् है; केवल अध्यात्म-सत्ताके परे ही भगवान् नहीं हैं, अध्यात्म-सत्ता भी भगवान् है, तब एक साथ सब प्रकारके साधनमार्गोंकी आवश्यकताको हम हृदयंगम कर सकेंगे। शरीर, मन और आत्मा इन तीनों ही स्तरोंमें हम प्रतिष्ठित रहेंगे, मनुष्यकी समग्र सत्ताके अंदर हम भगवान्‌को जगावेंगे, अपने किसी एक अङ्ग मात्रसे ही नहीं, बल्कि हमारे जितने अङ्ग हैं उन सबके द्वारा हम भगवान्‌को आलिंगन करेंगे—यही यदि हमारे योगका लक्ष्य हो तो केवल कोई एक विशिष्ट मार्ग ही हमारे लिये पर्याप्त न होगा। तब हम चाहेंगे अखण्ड पूर्णयोग, जिसके द्वारा हमारी सभी जीवन-धाराओंमें भग-

वान् लबालब भर जायं, हमारे संपूर्ण क्षेत्रको फल-फूलों और पेड़-पौदोंसे समृद्ध कर दें। इतना ही नहीं, हम केवल व्यक्तिगत सिद्धि नहीं चाहते, हम चाहते हैं विश्व-मानवकी सिद्धि। विश्वमानव जिससे शुद्ध, मुक्त, पूर्ण हो सके, उसीकी प्रतिकृति हमारी व्यक्तिगत साधना होगी। हम मानवसंघका निर्वाण नहीं चाहते, हम वह चीज चाहते हैं जिससे मानव-समाज अपने अशेष वैचित्र्यके साथ लहलहा उठे। उसकी वर्तमान सारी प्रेरणाएं, सारे प्रयास, सारे कर्म रहेंगे, केवल वे प्रतिष्ठित होंगे कश्चित् महान्में—श्रीभगवान्में। यह जब हमारा उद्देश्य है तब हम केवल किसी एक विशेष साधनमंत्रको ही समग्र मनुष्यजातिकी विभिन्नमुखी चेष्टाके ऊपर नहीं लाद सकते। इसी कारण हमें सब साधन-मार्गोंका समन्वय करना होगा, ऐसा सम-न्वय करना होगा जो केवल हमारी अपनी साधनाके लिये ही नहीं, प्रत्युत अखिल जीवकी, समग्र मानवजातिकी समष्टिगत साधनामें काम आ सके।

यह पूर्णाङ्ग योग जब हमारा लक्ष्य है तब इस लक्ष्यको सामने रखकर उसीकी सहायतासे हमें यह स्थिर करना होगा कि किस योगमार्गकी कितनी सार्थकता है अथवा किसमें कितनी त्रुटि है। परन्तु इससे पूर्व इन विभिन्न मार्गोंकी कुछ व्याख्या करना, किस मार्गका क्या विशेष फल है यह बतलाना आवश्यक है।

हठयोग

प्रकृतिकी प्रतिष्ठाभूमि है अन्नमय और प्राणमय कोष, जिसे सीधी-सादी भाषामें देह और प्राण कहते हैं। इसीको परिशुद्ध और वशीभूत करना हठयोगका लक्ष्य है। सामान्य जीवनमें मनुष्यकी देह और प्राणका गठन उसी सामान्य जीवनकी आवश्यकताके अनुसार हुआ है। प्रकृतिके विराट् भण्डारकी केवल एक क्षुद्र, क्षीण धाराके ऊपर ही हमारे ये शरीर और प्राण आश्रित हैं। वंशानुक्रमकी धारा और पारिपार्श्विक अवस्थाकी धारा—इन दोनोंके द्वारा हमारे शरीर और प्राणकी प्रकृति नियन्त्रित होती है। शरीरके केवल उसी-उसी अङ्गका उतना-सा ही संचालन हुआ करता है, प्राणमें केवल उतनी ही मात्रामें शक्तिका कार्य होता है, जितना नित्य-नैमित्तिक कर्म-जीवनके लिये आवश्यक और पर्याप्त होता है, उससे अधिक कुछ भी नहीं। प्रकृतिने साधारण मनुष्यके शरीर और प्राणमें जिस धर्म, जिस सामञ्जस्यका विधान किया है, उसको अतिक्रम करके हठयोग एक और बृहत्तर धर्म, एक और पूर्णतर सामञ्जस्य स्थापित करना चाहता है। शरीर सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, जरा-व्याधि-मृत्युका दास है, वह अपने चिर-अभ्यासगत कर्मोंमें बंधा हुआ है, प्राणमें

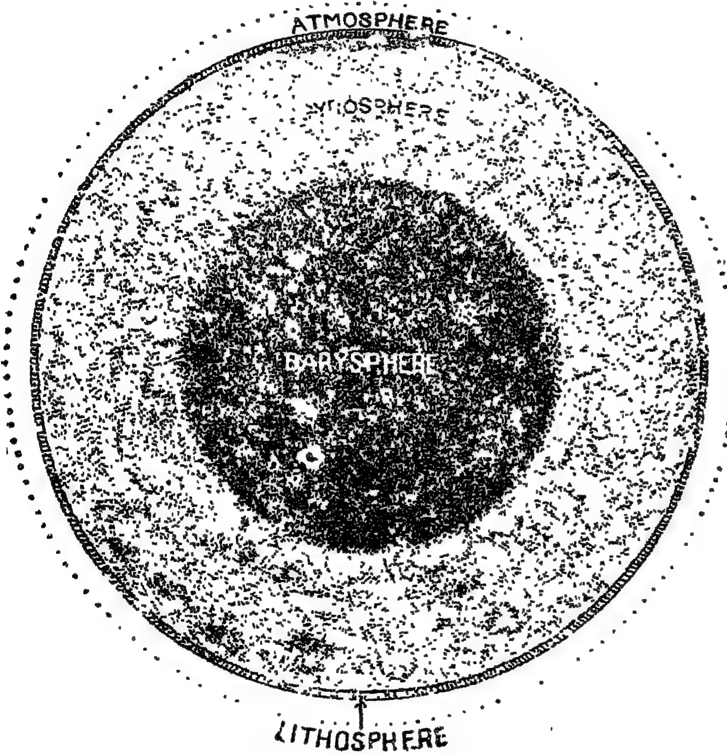
उतना ही वेग है जितने वेगके जोरसे शरीर अपनी आयुके प्रायः सौ वर्ष पूरे कर सके। हठयोगी प्राणके अन्दर एक ऐसा झरना खोल देना चाहते हैं जिसकी सहायतासे प्रकृतिकी सनातन अक्षय प्राणशक्ति उसके अन्दर विपुल स्रोतमें बहती हुई आ सके, शरीरके सब क्षुद्र बन्धन, सारे खण्डित संस्कार उस धारामें बह जायं। हठयोगी शरीर और प्राणको केवल साधारण जीवनके ही उपयुक्त नहीं रखना चाहते। वे चाहते हैं कि शरीर स्वस्थ अवस्थामें अनिश्चित कालतक विद्यमान रहे, प्रकृतिकी अनन्त जीवनी-शक्तिको धारण करनेका सामर्थ्य उसमें बना रहे।

इस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये हठयोगी दो उपाय काममें लाते हैं—आसन और प्राणायाम। आसनके द्वारा शरीरको अचञ्चल, स्थिर होनेकी शिक्षा दी जाती है। साधारण तौरपर शरीर बिल्कुल अस्थिर होता है, कुछ-न-कुछ किये बिना उससे रहा ही नहीं जाता। इसका कारण यह है कि प्रकृतिकी प्राणशक्तिके विराट् समुद्रसे जो स्रोत शरीरके अन्दर सर्वदा आया करता है, उसे सर्वथा धारण करनेमें शरीर असमर्थ होता है, इससे शरीरमें नाना प्रकारसे अङ्ग-संचालन होता रहता है और वह स्रोत शरीरसे बाहर निकल जाता है, हमें नाना प्रकारके कर्मोंके द्वारा इस अतिरिक्त शक्तिका क्षय करना पड़ता है। शरीरको शान्त, निःस्पन्द करनेका अर्थ है इस प्राणशक्तिको सर्वथा अपने

अन्दर धारण करना। यदि हम इस प्रकार शरीरके अन्दर प्राणशक्तिको जमा कर सकें तो उससे शरीर सबल, स्वस्थ और सुन्दर हो जायगा। इसके बाद हठयोगी नाना प्रकारकी जटिल प्रक्रियाओंके द्वारा शरीरमेंसे सब मल दूर करते हैं और सब नाड़ियोंको शुद्ध करते हैं। नाड़ी-शुद्धिका उद्देश्य श्वास-प्रश्वासकी क्रियाको अबाध गति प्रदान करना है। इस श्वास-प्रश्वासको लेकर जो प्रक्रिया की जाती है उसीका नाम प्राणायाम है। प्राणायामका अर्थ है प्राणशक्तिको, प्राणवायुको संयत करना, अपने वशमें करना। और श्वास-प्रश्वास ही प्राणशक्तिकी प्रधान स्थूल क्रिया है। प्राणायामके दो उद्देश्य हैं। पहला उद्देश्य है, आसनके द्वारा जो कायासिद्धि होती है उसको पूर्णसे पूर्णतर करना। प्राणायामके फलस्वरूप शरीरमें प्राणशक्ति मुक्त भावसे संचार कर सकती है और उस शक्तिका वेग भी बहुत अधिक बढ़ जाता है। साधारणतः शरीर जिन नियमोंका दास होता है उन सबको वह शक्ति अतिक्रम कर जाती है। प्राणशक्तिको अपने वशमें करके शरीरके द्वारा नाना प्रकारके अद्भुत कार्य किये जा सकते हैं—यह बात हठयोगशास्त्रमें सदासे स्वतःसिद्ध मानी गयी है। प्राणायामसे शरीर स्वास्थ्य, शक्ति और सौन्दर्यसे भर जाता है और हठयोगियोंका यह विश्वास है कि बहुत समयतक—और तो क्या, अनिर्दिष्ट कालतक—वे जीवन धारण किये रह सकते

चट्टान होनी चाहिये। एक समझौता यह हुआ है कि पृथ्वी को ३७ से ६२ मील की गहराई पर द्रवी समझा जाय।

अन्य विचारों से यह सारांश निकलता है कि इससे (कहीं पर ३७ मील कहीं पर ६२ मील) गहरे तल पर द्रवी तह एक केन्द्रीय तह में विलीन हो जाती है जिसके गुण बिल्कुल भिन्न हैं। इसको बैरिसफियर कहते हैं। पृथ्वी के घनत्व डेनसीटी की संख्याएँ इसका प्रमाण देती हैं। पृथ्वी के ऊपरी पर्त में सभी ज्ञात चट्टानों का औसत



चित्र ३—पृथ्वी का ढाँचा

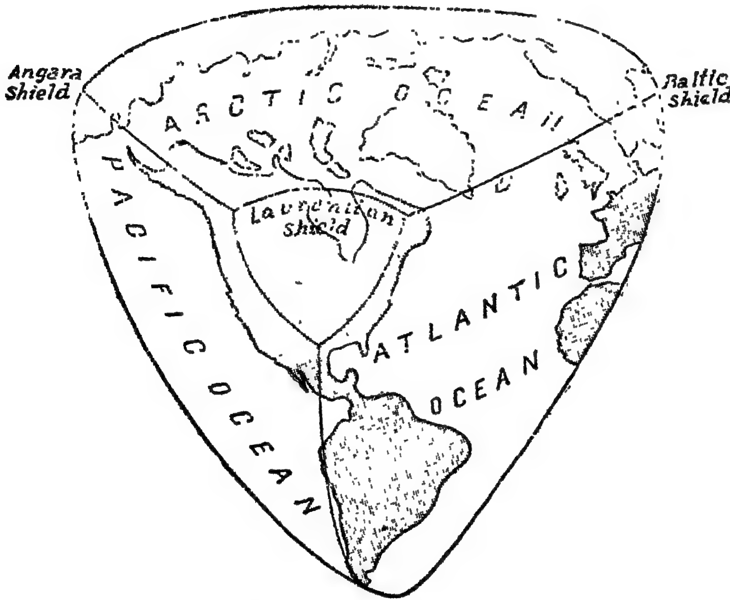
घनत्व २.५ है, यानी चट्टानों ने पानी से ढाई गुनी भारी हैं। परन्तु पूरी पृथ्वी का घनत्व ५.५ निकलता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पृथ्वी के अन्दर कहीं अधिक भारी चीजें मौजूद हैं। वे धरातल पर देखने को नहीं मिलती। सारी पृथ्वी का घनत्व तभी ठीक हो सकता है जब बैरिसफियर का घनत्व या भार स्पात से भी अधिक हो।

भूकम्पों के अध्ययन से यह बात जँचती भी है। सिस्मोग्राफ (भूकम्प नापने का यंत्र)

-को, अमृतको सहज ही भुला देता है। योगकी जो मुख्य बात है भगवान्‌में मुक्त, सिद्ध होना, उसका ध्यान हठ-योगियोंको नहीं रह पाता, वे ऐश्वर्यके मोहमें पड़ जाते हैं। यही कारण है जो प्रायः सभी सच्चे योगियोंमें ऐश्वर्यकी ओरसे, 'सिद्धपने' की ओरसे एक प्रकारका संकोच अथवा भय दीख पड़ता है। वे लोग कहा करते हैं कि ये सब तो भूत-प्रेतोंके खेल हैं या मार्गके प्रलोभन हैं, इन सबसे जितना दूर रहा जाय उतना ही अच्छा है। किसी साधकमें यदि इस प्रकारका कोई ऐश्वर्य आ जाय तो वे लोग उसे दूर फेंक देनेका ही उपदेश करते हैं। परन्तु यह भी एक अति ही है। हम तो ऐश्वर्य भी चाहते हैं, पर वह होगा भगवान्‌का ऐश्वर्य। ऐसी बात तो नहीं है कि भगवत्-उपलब्धि और ऐश्वर्य साथ-साथ न रह सकते हों। हठयोगियोंकी यही भूल है कि वे शक्तिके स्वामी भगवान्‌को भूलकर कृपणकी तरह शक्तिको अपने लिये अपने अन्दर छिपाकर रखते हैं। हम जिस पूर्णयोगकी बात कहते हैं वह जगत्‌के लिये, मनुष्यजातिके लिये है। हमारे योगका फल विश्वके कल्याणके लिये, जगत्‌कर्ममें नियोजित होगा। अन्यान्य योगियोंकी तरह हम ऐश्वर्यका त्याग करना नहीं चाहते, पर हठयोगियोंकी तरह उसीको सर्वस्व भी नहीं मानना चाहते। इसके अतिरिक्त हमारे योगका लक्ष्य है पूर्ण रूपसे जगत्‌के साथ सब प्रकारके

के पश्चिम द्वीप सम्मिलित हैं); (१) बाल्टिक शील्ड्स; और (३) अंगारालैंड (जिसमें पूर्वी साइबेरिया शामिल है)। दक्षिणी गोलार्द्ध में (४) गोंडवानलैंड हैं। इसमें दक्षिणी अमरीका का अधिकतर भाग अफ्रीका का बहुत कुछ भाग, आरेबिया, सीरिया और भारत का प्रायद्वीप है।

इन क्षेत्रों के मध्य में मुलायम तहें पड़ती है जो प्रायः मुड़ी हुई है। यहाँ पर कीपर्त्त कमजोर थी और बहुत अधिक दबाव का असर यह हुआ कि उसमें मरोड़ें आ गईं। और भी अधिक दबाव के फलस्वरूप ये मरोड़ें एक दूसरी के ऊपर आ गई। मरोड़ों का पड़ना बराबर जारी नहीं रहा। तह पड़ने के युग अलग-अलग हुए है; इनके बीच-बीच में ऐसे



चित्र ५—महाद्वीपों की टैट्राहेड्रल आकृति

ऐसे भी समय हुए जब सारी पृथ्वी सिकुड़न डालने वाली शक्तियाँ से बिल्कुल ही मुक्त थी।

इन बीच वाले समयो में, किसी प्रकार, कठोर क्षेत्रों में दरारें पड़ गईं और पर्त्त के बड़े-बड़े भाग डूबगए। जहाँ पर ये टुकड़े डूब गये, वह स्थान समुद्रोंसे घिर गया इसके अतिरिक्त समुद्र अन्य स्थानों में बढ़कर जमीन के ऊपर भी आ गया। जब लारेंशिया और गोंडवाना-लैण्ड टूट गए, तो बड़े-बड़े भाग नीचे पैठ गए और समुद्र ऊपर आ गया। इस प्रकार वर्त्तमान एटलांटिक बना। मुलायम पर्त्त जो प्राचीन टेमीज नामक समुद्र से ढँकी हुई थी सिकुड़कर

तीय और अन्तिम श्लोक ‡ से यह विदित होता है कि विज्ञान भिक्षु ने निर्णय करके इसे नारायणाऽवतार कपिल जी का कृत ठहराया है और उन्हीं ने ग्रन्थारम्भही में तत्वसमास सूत्रों के साथ इन सूत्रों की पुनरुक्ति होने की भी आशङ्का की है इससे और भी उसी निर्णय की सहायता मिलती है। तब यह पूर्णतया सम्भव है कि अग्निकपिल के सूत्र इन दिनों न मिलते हों और दोनों नारायणकपिलही कृत हों क्योंकि इसमें किसी ग्रन्थ अथवा वाक्य से विरोध नहीं है।

ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं में भी ऐसेही वर्ताव हैं इसे इनकी प्राचीनता पूरी झलकती है।

विज्ञानभिक्षु ने प्रायः अपने पांचोंहीं ग्रन्थों में * कारिकाओं

चार्य इसमें मङ्गल के तात्पर्य का निषेध करते थे। इन विश्वनाथ भट्टाचार्य का लेख यह है "अत्र केचित् सूत्रादौ मङ्गलं न प्रामाणिकमित्यत्र सूत्रकृतां तात्पर्यं वर्णयन्ति,तदसत् कृतस्याऽप्यऽनिबन्धनसम्भवात् विघ्नाभावनिर्णयेनाऽकरणसम्भवाच्च वयन्तु प्रमाणं प्राणनिश्चय इति भगवन्नामगर्भान्तःपातिप्रमाणशब्दस्योच्चारणमेव मङ्गलमितिब्रूमः"।

‡ सा० भा० श्लो० २ "तस्य श्रुतस्य मननार्थमथोपदेष्टुं सद्युक्तिजालमिह साङ्ख्यकृदाविरासीत्। नारायणः कपिलमूर्त्तिरशेषदुःखहानाय जीवनिवहस्य नमोऽस्तु तस्मै" अन्तिम "साङ्ख्यकृष्णाः समापूर्णं वेदान्तमथितामृतैः। कपिलर्षिर्न्नानयन्ति कृष्णो नाऽऽपाययत् पुरा ॥ तद्वचःश्रद्धया तस्मिन् गुरौ च स्थिरभावतः। तत्प्रसादलवेनेदं तच्छास्त्रं विवृतं मया ॥"

* इनके बनाये ५ ग्रन्थों का पता लगता है १ ब्रह्मसूत्र-ऋजु

उद्दाम विक्षोभसे मनुष्यका अन्तःकरण सर्वथा मलिन, इतस्ततः, विक्षिप्त रहता है । इसी कारण मनुष्य अपने-आपको नहीं जान पाता, उसके भीतर जो विराट महान् सत्ता है उन भगवान्‌का, उन परमपुरुषका स्पर्श वह अनुभव नहीं कर पाता । क्षुद्र प्रवृत्तियोंने भगवान्‌को उनके स्थानसे हटाकर भगा दिया है—नौकर मालिकके आसनपर बैठकर राज्य चला रहा है । इस चित्तवृत्तिको वशीभूत, शांत करनेके लिये राजयोगी अष्टांगयोगकी साधना करते हैं । ये अष्टांग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । सबसे पहले हैं यम और नियम । मनका, चित्तका जो अति चांचल्य है, प्रवृत्तिका जो उच्छृङ्खल वेग है, उसका कुछ हदतक शमन-दमन करना यम और नियम-का लक्ष्य है । अहिंसा, सत्यभाषण, मिताचार, शौच, संतोष, ईश्वरचिन्तन इत्यादि विधि-निषेधोंके अन्दर रहकर साधक चित्तविक्षोभके दासत्वसे बहुत-कुछ मुक्त हो जाते हैं । वे मनको संयत करके, नियमके अन्दर बाँधकर धीरे-धीरे उसे स्थिर और शांत होनेकी शिक्षा देते हैं । परंतु केवल मनके द्वारा मनको शान्त नहीं किया जा सकता । मनके ऊपर शरीर और प्राणका भी बहुत-कुछ आधिपत्य रहता है । इसीलिये राजयोगमें आसन और प्राणायामकी भी व्यवस्था है । हठयोगी जिन सैकड़ों कष्टसाध्य आसनों और विभिन्न प्रकारकी प्राणायामकी जटिल क्रियाओंसे सहा-

यता लेते हैं, उन सबको राजयोगी सहज, सरल बनाकर उनमेंसे जितना आवश्यक है केवल उतना ही ग्रहण करते हैं। राजयोगके अनुसार स्थिर सुखासन ही एकमात्र आसन है अर्थात् जिस प्रकार बैठनेसे मनको स्थिर करनेमें सुविधा हो, प्राणायाम आसानीसे हो सके, वही आसन है। प्राणायाम है श्वास-प्रश्वासकी गतिका निरोध। इस श्वास-प्रश्वासके गतिरोधके दो उद्देश्य हैं। पहला उद्देश्य यह है कि श्वास-प्रश्वासको रोकनेके साथ-साथ चित्तवृत्ति भी सहज ही रुक जाती है। दूसरा उद्देश्य यह है कि श्वास-प्रश्वासकी क्रिया-को वशमें करना प्राणवायुको अपने अन्दर धारण करना है, उसको अधिगत करना है। इससे सुप्त कुण्डलिनी, जो प्राणशक्तिका आधार है, जाग उठती है, चित्तके ऊपर जो तम, जो घना परदा पड़ा हुआ है वह हट जाता है, चित्त स्वच्छ, सत्त्वप्रकाशक हो जाता है। चित्तको सत्त्वपूर्ण, प्रकाशक बनाना ही आसन और प्राणायाम का एकमात्र लक्ष्य है। इस लक्ष्यसाधनके अतिरिक्त या अवान्तर जो प्रक्रियाएं हैं उन्हें राजयोग छोड़ देता है। इसके सिवा, प्राणायामके द्वारा साधक जिन ऐश्वर्यों, जिन अलौकिक शक्तियोंको प्राप्त करता है उन सबके प्रति भी राजयोगी हठयोगीकी तरह आकृष्ट या आसक्त नहीं होते।

जब चित्त निर्मल, शान्त हो जाता है, प्रसन्नतासे भर उठता है, तब उसको सर्वथा विचार-शून्य, पूर्णरूपेण

निश्चल करनेके लिये विषयोंसे इन्द्रियोंको हटाकर एकमात्र प्रतीति या ज्ञानके अन्दर धीरे-धीरे तन्मय हो जाना पड़ता है। इसी प्रकार क्रमसे प्रत्याहार, धारणा और ध्यानके द्वारा अन्तमें 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' के अन्दर पहुंच जानेपर राजयोगकी सिद्धि हो जाती है। इस समाधि-अवस्थामें बहिःकरण और अन्तःकरण सब निश्चेष्ट, शान्त हो जाते हैं, यहींपर सब प्रकारकी आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त हो जाती है। इस अवस्थामें तुम और मैं, ध्याता और ध्येय कुछ भी नहीं रहता, केवल एक उदार महान् विराट् स्वप्रतिष्ठ चैतन्य रहता है। यह समाधि-अवस्था जब इस प्रकार पूर्ण और सिद्ध हो जाती है, जब चित्तके सारे संस्कार केवल शान्त ही नहीं, वरन् एकदम निर्मूल, लुप्त हो जाते हैं तभी 'दोषवीजक्षये कैवल्यम्' की प्राप्ति होती है।

राजयोगसे हमें प्रधानतः दो शिक्षाएं मिलती हैं। प्रथमतः साधारण तौरपर हम इन्द्रियोंके दास बने स्थूलके अन्दर ही पड़े रहते हैं, इन्द्रियातीत भूमिकाकी कुछ भी खबर नहीं रखते। राजयोग हमें यह दिखला देता है कि इन्द्रियोंकी क्रियाका दमन करनेसे, मनको शान्त, विचार-शून्य करनेसे हम एक दूसरे प्रकारके चैतन्यके अन्दर जागृत होते हैं। उस समय हमारा ज्ञान इन्द्रियलब्ध प्रतीति-के अन्दर ही आबद्ध नहीं रहता, बल्कि ज्ञानका एक और

ही नया तथा गभीरतर स्रोत हमारे अन्दर खुल जाता है। और वही है सत्य, अव्यर्थ ज्ञान। उस समय वस्तुकी आभ्यन्तर सत्ता अपने-आप ही प्रतिभात होती है, उसी समय जीव अपने आध्यात्मिक स्वरूपमें स्थित होता है। इसीका नाम स्वाराज्य-सिद्धि है। द्वितीयतः केवल हम अन्तर्जगत्को ही वशमें नहीं कर सकते, केवल आत्मचैतन्यके अन्दर ही नहीं डूब सकते, वरन् समाधि-अवस्थाकी उस केन्द्रीभूत महती चित्-शक्तिके द्वारा हम बहिर्जगत्को भी वशमें कर सकते हैं, उसके द्वारा अपने स्वभाव, कर्मजीवन और पारिपार्श्विक अवस्थाको नियन्त्रित, संघटित और परिचालित कर सकते हैं। इसीको साम्राज्य-सिद्धि कहते हैं। वर्तमान समयमें इस साम्राज्यसिद्धिको राजयोगी बहुत महत्त्व नहीं देते, इसको एक प्रकारसे उन्होंने राजयोग-साधनासे निर्वासित कर दिया है। परन्तु प्राचीन कालके साधक साम्राज्य-सिद्धिके बिना स्वाराज्यसिद्धिको कदापि पूर्ण और सार्थक नहीं मानते थे।

राजयोग मनुष्यको शरीर और प्राणसे ऊपर उठाकर मानसिक क्षेत्रमें पूर्णता प्रदान करता है, उसको वास्तविक अध्यात्मजीवनका रसास्वादन कराता है। यही राजयोग-की देन है। परन्तु राजयोगमें कमी यह है कि उसने समाधि-अवस्थाको ही अत्यधिक महत्त्व दे रखा है। हम जो चाहते हैं वह है अतीन्द्रिय क्षेत्रकी चेतनाको स्थूलके अन्दर

जागरित करना, जगत्को आत्माकी शक्तिके द्वारा निर्मित करना। परन्तु राजयोगी स्थूलका बन्धन तोड़कर, प्राण और मनके सब व्यापारोंको निस्तब्ध करके किसी तुरीय लोकमें चले जाना चाहते हैं। वे जाग्रत अवस्थाको हेय समझकर उसे भूल जाते हैं और अपने-आपको स्वप्न या सुषुप्तिके अन्दर ढाँक रखते हैं।

मार्गत्रयी

ज्ञानयोग

राजयोगके परवर्त्ती स्तरमें ज्ञान, भक्ति और कर्म हैं—इन्हींको योगत्रय कहते हैं। इनकी क्रिया राजयोगकी तरह समूचे अन्तःकरणको लिये हुए नहीं होती। ये मनके सभी भागोंको नियन्त्रित और वशीभूत करनेका प्रयास नहीं करते। इनका लक्ष्य मनकी तीन प्रधान गतियोंमेंसे किसी एकको लेकर उसीकी सहायतासे समग्र मनुष्यको परिवर्तित करना है। समग्र मनुष्यको सब ओरसे तोड़फोड़कर नये रूपमें गढ़नेकी चेष्टा न कर उसके अन्तरकी मूल वस्तुको पकड़ो, उसके केन्द्रस्थानपर आघात करो, देखोगे कि वह कितनी आसानीसे परिवर्तित होता जा रहा है—ऐसी इस मार्गत्रय-की मान्यता है। इस मूल वस्तुको, अन्तःकरणके प्रधान धर्म-रूपसे, किसीने ज्ञान, किसीने प्रेम और किसीने कर्म मान-कर ग्रहण किया है और उसीके अनुसार उनके साधनमार्ग यथाक्रम ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग कहलाते हैं। मनुष्यकी इन त्रिविध एषणाओंकी गति सामान्य मानवजीवन-में स्थूलकी ओर, अल्पकी ओर, खण्डकी ओर होती है। उस ओरसे इन्हें हटाकर सूक्ष्मकी ओर, बृहत्‌की ओर, पूर्णकी ओर, भगवान्‌की ओर लगाना होगा, यही मार्गत्रयकी साधनाका मूल

सूत्र है। यदि एक बार मनुष्य अपनी बुद्धि, हृदय अथवा कर्मप्रेरणाके केन्द्रमें भागवत स्पर्शका अनुभव प्राप्त कर ले तो फिर क्रमशः अन्यान्य सभी क्षेत्र उसी स्पर्शके द्वारा दिव्य प्रतिष्ठान बन जायंगे। राजयोग और इस मार्गत्रयीके बीच एक और भेद दिखाया जा सकता है। राजयोग शरीर और मनके परिमार्जन और संशोधनके ऊपर जितना जोर देता है, भागवत सत्ताका अधिकारी बनानेके लिये शरीर और मनको जिन कृच्छ्र साधनाओं तथा नानाविध प्रक्रियाओंके द्वारा शुद्ध, सिद्ध और पूर्ण बनाना चाहता है उन सबको मार्गत्रय नहीं स्वीकार करता। आसन, प्राणायाम या चित्तवृत्तिनिरोध—इन सब प्रक्रियाओंको करनेके लिये मनुष्यको अपने ऊपर जोर डालना पड़ता है, मानो अपने ऊपर बाहरसे किसी चीजको आरोपित करना पड़ता हो—इनके अन्दर एक प्रकारकी कृत्रिमता और संकीर्णताका आभास मिला हुआ होता है। मार्गत्रयका कहना है कि मनुष्यको मनुष्यके रूपमें लो, उसकी सहज स्वाभाविक अवस्थामें लो। मनुष्य जानना चाहता है, प्रेम करना चाहता है, कर्म करना चाहता है—इन्हीं तीनोंकी सहायतासे किस प्रकार उसे परिवर्तित किया जा सकता है यही विचार करना है। शरीर और मनके उस कठिन व्यायामकी भला क्या आवश्यकता है?

राजयोग प्रतिष्ठित है चित्तपर और ज्ञानयोग प्रतिष्ठित है बुद्धिपर। मनुष्य जानना चाहता है, उसकी इस 'जानने' की

प्रवृत्तिका ही आश्रय करके ज्ञानयोग चलता है । लक्ष्य क्या है? भगवान् । भगवान्को पानेके लिये सबसे आगे भगवान्को जानना चाहिये । मिथ्या ज्ञान या अज्ञानका नाश हो तथा सत्यका ज्ञान प्राप्त हो, बस यही समूची साधना है । सत्य-स्वरूप भगवान् है आत्मा, इस आत्माका साक्षात्कार प्राप्त करना ही सारा ज्ञानयोग है । ज्ञानयोगके दो स्तर या भाग हैं । पहला स्तर है विचार और विवेक । सत्यको जाननेके लिये सबसे आगे यह जानना होगा कि सत्य क्या नहीं है, असत्य क्या है? इसीका नाम विचार है । हम अपने संबंधमें जितना जान सकते हैं उतना और किसीके भी विषयमें नहीं जान सकते । इसीसे विचार अपने-आपसे ही आरम्भ होता है । हमारे अन्दर सत्य क्या है? क्या देह सद्वस्तु है? नहीं । तब क्या प्राण है? नहीं। मन है? नहीं। कारण ये सभी नश्वर, चञ्चल, क्षणिक हैं। सत्यका अर्थ है सत्, जो है, जो था और जो रहेगा, रहना ही जिसका धर्म है। जब हम इस प्रकार 'नेति नेति' के द्वारा असत्प्रत्ययका पूर्ण रूपसे त्याग करते हैं, जब हम गभीरताके साथ यह अनुभूति प्राप्त करते हैं कि शरीर, प्राण और मन सत्य नहीं हैं, इनके परे कुछ है जो अव्यभिचारिणी सत्ता है, जो सत् है, जो सत्य है, तब हमारे अन्दर विवेक जागता है । विवेक एक प्रकारकी स्वाभाविक प्रेरणाके द्वारा सत्य और मिथ्याका भेद दिखा देता है । विचार मिथ्या प्रतीतिका खण्डन करता है

और विवेक सद्वस्तुका आभास प्रदान करता है—केवल आभास, क्योंकि हमारे निगूढ़ सच्चे 'अहं' का जो चैतन्य है वह एकदम बुद्धिग्राह्य है ही नहीं। बुद्धिके द्वारा हम केवल उसके भावको ही देख पाते हैं। इस भावको अपनी अनुभूतिमें वस्तुतंत्र करना ज्ञानयोगका द्वितीय स्तर है। इस स्तरमें साधकको इस भावके साथ परिचय करना होता है, मन-ही-मन उसे गूंथना होता है और उसमें एकाग्र और तन्मय हो जाना होता है। इसी बातको ज्ञानयोगीकी भाषामें यों कहेंगे कि सत्यको, आत्माको प्राप्त करनेके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेकी आवश्यकता है। सतत मन लगाकर सुनो सत्यमंत्र, सत्यका नाम, उसकी संज्ञा और उसका परिचय; अपनी विचारधाराको, मनको सर्वदा उसीमें नियोजित रखो; उसीके अन्दर डूब जाओ। इस प्रकार उस परम वस्तुके विषयमें विचार करते-करते, केवल सत्-सत्ता-की प्रतीतिके अन्दर निवास करते-करते क्रमशः हमारी सारी बाह्य प्रतीति नष्ट हो जायगी, देह, प्राण और मनकी क्रिया, यह मिथ्या मरीचिका दूर हो जायगी और शाश्वत गुहास्थित आत्मा समुदित, जागरित हो उठेगा। उस समय साधकको अन्य किसी प्रकारकी चेतना नहीं रहेगी, वह उस समय तुरीय अवस्थामें स्थित हो जायगा, वह शुद्ध, मुक्त, बुद्ध हो जायगा। उस समय जगत्के ज्ञानसे, इन्द्रियोंके ज्ञानसे निर्विशेष मुक्ति लाभ कर वह कैवल्यको, ब्रह्मसिद्धिको प्राप्त होगा।

ज्ञानयोगकी सबसे बड़ी देन यही ब्रह्म, यही सच्चिदानन्द है—वह सत जिसपर सारी सत्ता निर्भर करती है, वह चैतन्य जो समस्त ज्ञानका मूल है, वह आनन्द जो सुख-दुःखके अन्दर अन्तःसलिला फल्गु नदीके समान प्रवाहित होता रहता है। ज्ञानयोग मनुष्यको साक्षात्कार कराता है उसकी गभीरतम आत्मवस्तुका, जो सब प्रकारकी सीमा, खण्डता और स्थूलतासे परे एक अनिर्वचनीय पूर्णत्व, एकत्व है, जो नित्यसत्य है, जो अपरिणामी, विरोधरहित, शाश्वत, सनातन है, जहां शोक नहीं, मोह नहीं, अतृप्ति नहीं, द्वन्द्व नहीं। परन्तु ज्ञानयोगकी कमी यह है कि उसने मनुष्यको तुरीय, अतीन्द्रिय वस्तुके अन्दर प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा करते हुए मनुष्यके तीनों इहलोकोंको, उसकी इन्द्रियोंको एकदम तुच्छ, त्याज्य बना दिया है। यह बात ठीक है कि देह, प्राण और मनमें असत्य, अनृतकी लीला चल रही है, परन्तु ये पूर्णतया असत्य, अनृत नहीं हैं। इनको भी सच्चिदानन्द-तत्त्वके द्वारा पुनः गठित किया जा सकता है। इस बातको ज्ञानयोगियोंने नहीं समझा है। मूल सत्यकी खोज करते हुए वे इस बातको भूल ही गये हैं कि उसी सत्यकी शाखा-प्रशाखा और फल-फूलसे सुशोभित यह स्थूल दृश्य मूर्त्ति भी है। खण्डको, सीमाको उन्होंने अवश्य ही दूर कर दिया है, परन्तु उसके साथ ही उन्होंने वैचित्र्यको भी खो दिया है।

'एक'को उन्होंने पाया है, परन्तु 'एक'का ही जो यह बहुत्व है उसे उन्होंने खो दिया है। उन्होंने एकीकरणको तो समझा है, पर समीकरणको नहीं समझा है। हम पूर्णयोग-के साधक 'एक'को चाहते हैं क्योंकि 'एक' ही मूल आधार है। परन्तु हम उस 'एक'को 'बहु'में प्रकाशित करेंगे, ब्रह्मको देह, प्राण और मनमें जाग्रत करेंगे। ज्ञानयोगने एक और बहु, ब्रह्म और जगत्, अतीन्द्रिय और इन्द्रियके बीच जो एक दुर्भेद्य प्राचीर खड़ी कर दी है उसे हमें तोड़ डालना होगा और दोनोंके मिलन-स्थान, सामञ्जस्य-तत्त्वका ढूंढ़ निकालना होगा।

ज्ञानयोगी यही भूल करते हैं कि वे अपने ही अस्तित्वके अन्दर ब्रह्मको प्रकट देखते हैं, एकमात्र वहीं ब्रह्मको प्राप्त करना चाहते हैं। यदि हम अपनी सत्ताको जगत्‌के केन्द्रके रूपमें न देख जगत्‌की अन्यान्य वस्तुओं-को अपने चैतन्यकी छायाके रूपमें या मायाके खेलके रूप-में ग्रहण न कर दूसरोंकी सत्ताके अन्दर भी ब्रह्मकी अनु-भूति प्राप्त कर सकें, प्रत्येक व्यष्टिगत चैतन्यके अन्दर ब्रह्मकी पूर्ण स्थितिका साक्षात्कार प्राप्त कर सकें तो फिर जगत्‌के बाहर ही नहीं, जगत्‌के भीतर भी हम उसी ब्रह्मको प्राप्त करेंगे। हम समस्त द्वैतके अन्दर अद्वैतका अनुभव प्राप्त करनेके कारण यह समझ जायेंगे कि ब्रह्म और जगत्‌के बीच जिस व्यवधानकी कल्पना मायावादियोंने की है, वह वास्तवमें नहीं है।

वास्तवमें ब्रह्मसत्ताका जो चैतन्य है उसीपर ज्ञान-

योगियोंकी दृष्टि पड़ी है। इस चैतन्यका धर्म जो प्रकाशित होना, विकीर्ण होना, विस्फुरित होना है उसको अर्थात् शक्तिको वे नहीं समझ सके हैं—चित् और तपः एक ही वस्तु हैं और इस तपःसे सृष्टि होती है। उन्होंने केवल चैतन्यके ऊपर ही विशेष जोर दिया है और इस कारण निष्क्रिय या अक्षर ब्रह्मको प्राप्त किया है। परन्तु चैतन्यके अन्दर जो प्रकाशात्मिका प्रेरणा, जो उद्‌गमनशीला शक्ति—स पर्यगात्—निहित है, उसके ऊपर यदि हम ध्यान दें तो हम देखेंगे कि ब्रह्म ही कर्मशील हुए हैं, अचल, स्थाणु ही अपने अचलत्व, स्थाणुत्वको अक्षुण्ण रखते हुए गतिके अन्दर, परिणामके अन्दर प्रकट हुए हैं। ब्रह्मकी ही स्वरूप-सत्तासे यह जगत् निकला है, उसीमें प्रतिष्ठित है, सच्चिदानन्दकी परम शान्तिका आश्रय लेकर विश्वकी शक्ति चंचल हो रही है, नित्य लीला कर रही है। इस प्रकार यदि हम ज्ञानयोगकी साधना करें तो हम देखेंगे कि एकमेवाद्वैतं, शान्तं-शिवं-सुन्दरं, जगत्‌की प्रत्येक वस्तुमें, प्रत्येक गतिमें प्रस्फुटित हो रहा है। उस समय हम अपने विचार, अपने भोग, अपने कर्म-जीवनको भी एक प्रकारकी आन्तरिक प्रसन्नता, विमलता, स्वच्छता, शान्ति और मुक्तिके प्रदीप्त चैतन्य, अखण्ड ज्ञानके ऊपर प्रतिष्ठित कर सकेंगे। उस समय हमें साधारण जीवनके त्यागकी जरूरत न होगी, जगत्कर्मसे दूर हटनेकी आवश्यकता न होगी, बल्कि उस समय हम इन सबको ब्रह्मज्ञान, ब्राह्मी-स्थितिका सुन्दर लीलाविलास बना लेनेमें समर्थ होंगे।

मार्गत्रयी

भक्तियोग

ज्ञानयोग मनुष्यको उसके मस्तिष्क, उसकी बुद्धिवृत्ति, उसकी सत्य जाननेकी प्रेरणाके द्वारा समुन्नत अध्यात्म-सत्तामें प्रतिष्ठित करना चाहता है। परन्तु भक्तियोगने पकड़ा है मनुष्यके हृदयको, उसकी प्रेमवृत्तिको, सुन्दरके प्रति उसकी आसक्तिको। ज्ञानयोगीका लक्ष्य है ब्रह्म, तुरीय चैतन्य। भक्तका लक्ष्य है भगवान्, तुरीय आनन्द। ज्ञानीका मार्ग है आत्मोपलब्धि, अपने स्वरूपको, सत्य सत्ताको जानना, पहचानना, अपना 'मैं' ही बन जाना। भक्तका मार्ग है आत्मसमर्पण, प्रणति—'मैं' को 'तुम' के हाथोंमें सौंप देना, 'मैं' के भीतर 'तुम' को मिलाकर आनन्दसे, तृप्तिसे भरपूर हो जाना। भक्त कहते हैं कि प्रेमपिपासासे अधिक प्रबल और कोई भी वृत्ति मनुष्यके भीतर नहीं है। मनुष्य विचार करता है, कर्म करता है, परन्तु ये सब मानो बाहरी अंग मात्र हैं। हृदय ही उसका केन्द्रस्थल है, वास्तवमें हृदय ही मनुष्यको परिचालित करता है। इसीलिये यदि मनुष्यको रूपान्तरित करना हो, बृहत्तर सत्ताके साथ उसका परिचय कराना हो तो यह कार्य करना इस प्रेमके

गुल्मलतौषधीनाम् ॥ या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ ३२ ॥ या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामैर्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् । कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥ ३३ ॥ वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः । यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् " ॥ ३४ ॥ इति ॥ याक्रम विज्ञप्तिसों दंडोत करिये कदाचित् अवकाश ना पाइये तो तादिन नाममात्र लेके दण्डवत करिये ।

ततो देहकृत्यं कुर्यात् । शौच समयः ।

" उद्धृतासि वराहेण विश्वाधारे वसुन्धरे । त्वं देहमलसम्बन्धादपराधं क्षमस्व मे" ॥ ३५ ॥ याभाँति विज्ञप्तिकरि देह कृत्य करिये माटीजलसों शौचक्रिया शुद्धहोय । शौचजलके छींटनसों स्नान राखि हाथ पाँव माटीसों धोय कुल्ला करिये ॥ "मूत्रे पुरीषे भुक्त्यन्ते रेतःप्रस्रवणे तथा ॥ चतुरष्टाद्विषड्द्व्यष्टगण्डूषैः शुद्धिमाप्नुयात् ॥३६॥" मूत्रके ४ शौचके ८ भोजनके १२ और विषयके अन्तमें १६ कुल्लानते शुद्धि होयहै ।

ततो दन्तधावनं कुर्यात् ।

अर्थ-ताके पीछे दातन करनो । "वनस्पते मनुष्याणामुद्धृतश्चास्यशुद्धये ॥ कृष्णसेवार्थकस्याशु मुखं मे विमलीकुरु" ॥ ३७ ॥ दन्तधावन एक बिलांदको लेके पीढापर बैठके करिये । पाछे कुल्लाकरि जूठे जलको स्नानराखि मुखधोयके पोछिये । ततः प्रभुं विज्ञापयेत् । "कृष्ण गोविन्द बर्हिष्मन् विठ्ठलेशाभयप्रद ॥ गोवर्द्धनधर स्वामिन् पाहि मां शरणागतम्" ॥ ३८ ॥ ततः प्रभोश्चरणामृतं ग्राह्यम् । "गृह्णामि गोकु-

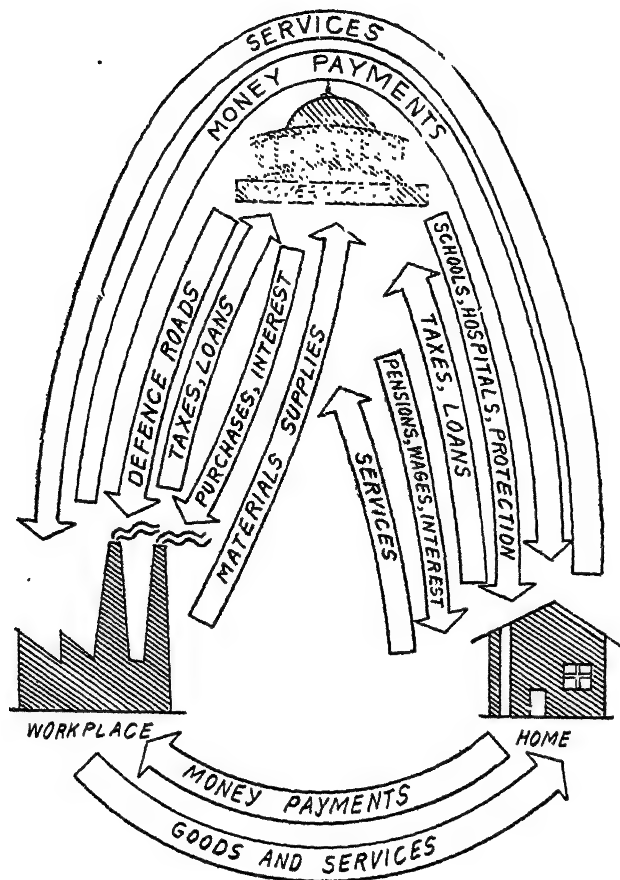
जगत्‌में नाना प्रकारके बन्धनोंमें अपनेको बांधकर, प्रेमके अनेक पात्रोंमें अपनी हृदय-धाराको ढाला करता है। वह पुत्रके प्रति, मित्रके प्रति, पति या पत्नीके प्रति—इस प्रकार प्रेमके अनेक सम्बन्ध स्थापित करता है। भक्तियोग कहता है कि भगवान्‌को भी तुम इसी प्रकार चाहे किसी भावमें प्राप्त कर सकते हो। वह कोई अद्‌भुत या अनधिगम्य पदार्थ नहीं हैं। वही 'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायाः' हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये प्रेमरसके पांच भाव हैं। इन्हीं भावोंको अपने हृदयमें रखो। और चाहे जिस भावमें तुम सराबोर क्यों न हो, उस भावको बस मनुष्यकी ओरसे फेरकर भगवान्‌के चारों ओर विकसित करो। भक्तवीर हनुमान, अर्जुन, यशोदा और राधाने इसी प्रकार एक-एक भावके द्वारा भगवान्‌को पाया था।

इतना ही नहीं, बल्कि भक्तिमार्गने यह बात भी कही है कि केवल अनुकूल भावसे ही नहीं, प्रतिकूल भावसे भी, केवल मित्रभावसे ही नहीं, शत्रुभावसे भी भगवान्‌के लिये साधना की जा सकती है, भगवान्‌को प्राप्त किया जा सकता है। किसी चीजको अधिकृत करनेके लिये सबसे पहले आवश्यकता है उसके साथ एक घनिष्ठ, अत्यन्त तीव्र संबंध स्थापित करनेकी। मित्र-भावकी तरह शत्रुभाव भी ऐसा ही एक तीव्र सम्बन्ध है। जिस प्रकार मित्रकी सत्ता हमारे निकट अत्यन्त परिस्फुट, गोचर होती है ठीक उसी प्रकार

शत्रुकी सत्ता भी परिस्फुट, गोचर होती है, उसका अस्तित्व ठीक उसी प्रकार हमारे अन्तःकरणमें जाज्वल्यमान रहता है। भगवान्‌को भी इसी प्रकार शत्रुभावसे देखकर उनका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यहांतक कि मित्रभावकी अपेक्षा शत्रुभाव बहुत बार साधकके लिये शीघ्र फलदायक होता है। क्योंकि शत्रुभावकी साधना करनेपर हमारे अन्दरकी सारी अशुद्धि, विकृति, जो चारों ओर फैली हुई, छिपी हुई होती है, वह सब एकत्रित, एकमुखो और गभीर हो जाती है। और जब यह विराट् स्तूप भगवान्‌के विरुद्ध प्रयुक्त होता है तब एक साथ ही, एक आघातमें हो उस सारे स्तूपको चूर-चूर कर देनेका मौका उन्हें मिल जाता है। परन्तु मित्रभावकी साधनामें भगवान्‌को साधकके प्रत्येक अंगसे दोषोंको लगातार चुन-चुनकर दूर करना पड़ता है और इस कार्यमें समय लगता है। इसी कारण सम्भवतः ऐसा कहा गया है कि मित्रभावसे साधना करनेपर सात जन्ममें मुक्ति मिलती है और शत्रुभावसे करनेपर केवल तीन जन्ममें ही मुक्ति मिल जाती है। विद्वेष प्रणयका ही विपरोत स्वरूप है। घोर विद्वेषको बड़ी आसानीसे प्रणयके रूपमें परिणत किया जा सकता है। परन्तु जहांपर उदासीनता है वहांपर इस प्रिय सम्बन्धको स्थापित करना कठिन है।

भगवान् केवल अतीन्द्रिय, अशरीरी सच्चिदानन्द ही नहीं हैं। जगत्‌के स्थूल रूप मनुष्यकी इन्द्रिय आदिके

परिवर्तनों में समायोजन होना आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की पूर्ति में समय-समय पर इस प्रकार पर्याप्त परिवर्तन होने चाहिए कि वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग में परिवर्तन होने पर मुद्रा की पूर्ति में भी परिवर्तन हों। उत्पादन में वृद्धि होने पर संचलन में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि तथा उत्पादन में कमी होने पर मुद्रा की पूर्ति में कमी होनी चाहिए।



चित्र २·५

परन्तु यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब मुद्रा के बहाव के आकार पर सरकार का पर्याप्त नियन्त्रण होता है। मुद्रा के बहाव का आकार प्रथम, मुद्रा की पूर्ति पर तथा दूसरे व्यय करने की रफ्तार अर्थात् मुद्रा के वेग (velocity) पर निर्भर होता है। यदि मुद्रा की पूर्ति एक करोड़ रुपये है तथा यदि प्रत्येक रुपया वर्ष में दस बार वेतनों का भुगतान करने, उपभोग वस्तुओं को क्रय करने करों का भुगतान करने तथा नदी घाटी योजनाओं आदि मदों पर व्यय किया जाता है, तो कुल मुद्रा भुगतानों के बहाव का आकार दस करोड़ रुपये होगा। दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि इस वर्ष विशेष में दस करोड़ रुपये के मूल्य की वस्तुओं तथा सेवाओं का भुगतान हुआ है। अब यदि अगले वर्ष में मुद्रा की पूर्ति तीन गुनी हो जाती है तथा इसके वेग तथा वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है तो तीस करोड़

केवल निष्क्रिय (passive) भोक्ता ही नहीं, वरन् सक्रिय (active) कर्त्ता भी बननेकी प्रेरणा करती है। जगत्‌में जो कुछ जैसा है या होता है उसीसे भक्त एक समरसात्मक महान् आनन्दके नशेमें चूर रहते हैं। इस आनन्दके खेलका भी जो विशेष लक्ष्य, विशेष गति, विशेष प्रणाली है उसकी अनुभूति मनुष्यको प्रज्ञाके द्वारा अपने अन्दर प्राप्त करनी चाहिये और कर्मद्वारा उसको विराट् बनाना चाहिये—इस बातके प्रति भक्त एकदम उदासीन रहते हैं। इसीलिये उनकी दृष्टिके सामने जगत् अर्धस्फुट, भावके कुहासेसे ढका हुआ रहता है, वह जाग्रत वस्तुतंत्र नहीं हो पाता। भावप्रवणता-की सहज मादकताके नशेमें चूर होकर भक्तिके साधक धीरे-धीरे साधारण जगत्‌से दूर हट जाते हैं। यही भक्तिमार्गकी कमी है।

भगवान्‌के साथ ज्ञानीका सम्बन्ध एकदम इन्द्रियोंसे परेका, सृष्टिसे बाहरका सम्बन्ध होता है। परन्तु उसी सम्बन्धको भक्तोंने स्थूल रूपमें मनुष्यके अत्यन्त निकट अनुभव किया है, उसको सृष्टिके, इन्द्रियोंके अन्दर प्रतिष्ठित किया है। भक्तिमार्गकी यही विशेषता है। जगत्‌को स्वीकार करके, मनुष्यजातिके भीतर रहकर जो सिद्ध जीवन, दिव्य साम्राज्य प्राप्त होता है उसका एकमात्र आधार यह प्रेम, भागवत प्रेम ही हो सकता है। मनुष्य-मनुष्यके बीच, केवल मनुष्य-मनुष्यके बीच ही क्यों, मनुष्य और सारे सृष्ट पदार्थोंके बीच

आनन्दका, सामञ्जस्यका, मिलनका एक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, इस मिलनके खेलकी सम्भावनाको भक्तिमार्गने दिखाया है। साथ ही भक्तिमार्ग यह भी कहता है कि मनुष्यकी जो रूपतृष्णा, भोगवासना है, उसका जो इन्द्रियपरिचालित जीवन है उसके अन्दर भगवान्‌की ही भोगेच्छा छिपी हुई है, उन्हींका आनन्द बिखरा हुआ है। इसीलिये इन सबको छोड़कर नहीं, वरन् इन सबको भगवान्‌के अन्दर शुद्ध और परिपूर्ण करके दिव्य जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

मार्गत्रयी

कर्मयोग

कर्मयोगी कर्मजीवनके द्वारा भगवान्‌को और भी अधिक वास्तव, और भी अधिक प्रत्यक्ष रूपमें देखते हैं। भगवान् केवल ज्ञाता नहीं हैं, केवल भोक्ता भी नहीं हैं, बल्कि वही फिर नियन्ता, ईश्वर भी हैं। वही विराट् कर्मी हैं—यह कर्मशील जगत् उन्हींका विराट् अङ्ग-संचालन है। भगवान्‌का जो सबसे अधिक स्पष्ट, सबसे अधिक स्थूल प्रकाश है, जिसके साथ मनुष्य इस जगत्‌रूपी संस्थाके अन्दर ओतप्रोत भावसे मिला हुआ है, जिसके बिना कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता, उसी कर्मराशिके द्वारा कर्मयोगी भगवान्‌के साथ युक्त होना चाहते हैं। कर्मयोग-की तीन अवस्थाएं मानी जा सकती हैं। सबसे पहली अवस्था यह है कि जीवनके प्रत्येक कर्मको, चाहे जिस किसी अवस्थामें, जिस किसी परिस्थितिमें साधक क्यों न हो, उसे यथोचित प्रत्येक कर्तव्यको भगवान्‌के उद्देश्यसे करना होगा, अपने प्रत्येक कर्मको पुष्पांजलिके रूपमें उन्हींके चरणोंमें निवेदन करना होगा। क्योंकि साधारणतः मनुष्य अहङ्कारके वशमें होकर कर्म करता है, यह अहङ्कार

ही उसके और भगवान्‌के बीच एकमात्र अन्तराय है, इस अहङ्कारकी दीवालको तोड़-फोड़कर उसे अनन्तके वृहत् विस्तारके अन्दर चला जाना होगा। इसीलिये अपने लिये नहीं, अपने हानि-लाभ, सुख-दुःख, जय-पराजयके प्रति उदासीन होकर, केवल कर्मके लिये ही कर्म, भगवान् चाहते हैं इसलिये करता हूं—इस भावसे कर्म करना होगा। कर्मयोगका आधार यही फलाकांक्षासे शून्य होकर कर्म करना है—यही आत्मसमर्पण और निष्कानभाव है। इसके बाद जब यह आत्मसमर्पण और निष्कामभाव और भी पूर्ण, और भी दृढ़ हो जाता है तब फलाफलकी तो कोई अपेक्षा रहती ही नहीं, कर्तव्यका ज्ञान, कर्मके ऊपर अधिकार भी लुप्त हो जाता है। उस समय ऐसा भाव हो जाता है कि मेरे लिये करणीय, अकरणीय कुछ भी नहीं, मेरे लिये उत्सर्ग करनेकी कोई चीज नहीं, क्योंकि मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता हूं। भगवान् ही मेरे द्वारा अपना कर्म कर लेते हैं। उस समय भगवान्‌की विराट् शक्ति साधकके अन्दर आविर्भूत होती है, उस समय साधक स्वतन्त्रतारहित यन्त्रकी तरह भगवान्‌की इच्छाके अनुसार कर्म करता जाता है, वायुके झोंकेके साथ उड़नेवाले पत्तेकी तरह चलता जाता है। उस समय वह अनुभव करता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूं। मैं द्रष्टा हूं, पुरुष केवल देख रहा है, प्रकृति ही सब कुछ कर रही है।

अन्तिम अवस्था तब आती है जब भागवत प्रकृतिकी पूर्ण प्रेरणा साधकके अन्दर कार्य करने लगती है। उस समय साधकको 'मैं' का बोध नहीं होता। उस समय वह अनुभव करता है कि मेरी अपनी कोई दृष्टि नहीं, भगवान्‌की दृष्टिसे ही कार्य हो रहा है; मेरा 'मैं' मिल गया है परम पुरुषमें और मेरे शरीर, मन और प्राण मिल गये हैं दिव्य प्रकृतिमें; मेरी व्यक्तिगत प्रकृति विश्वप्रकृतिके साथ ग्रथित होकर परम पुरुषकी इच्छाके अनुसार कार्य कर रही है। उस समय भगवान् केवल साधककी संस्कारगत प्रेरणाके अनुसार, उसके पारिपार्श्विक निर्दिष्ट कर्तव्यके अनुसार कार्य नहीं करते, वह अपनेको इनके अन्दर आबद्ध नहीं रखते; बल्कि अपनी अलौकिक ऐशी शक्तिके द्वारा, अपने अभिप्रायके अनुसार, नयी प्रेरणाके अन्दर, नया कर्म सम्पादित करते हैं।

परन्तु साधारणतया कर्मयोगी कर्मसे मुक्त होनेके लिये कर्म करते हैं। उनके मतानुसार जीव बद्ध है, क्योंकि उसका कर्म है। कर्मका नाश होनेपर ही उसे निःश्रेयस्, कैवल्यकी प्राप्ति हो सकती है। तब कर्मसे विमुख होकर कर्मका नाश करना सम्भव नहीं। कर्म करके ही कर्मका क्षय करना होगा। परन्तु अहङ्कारके द्वारा कर्म करनेसे कर्मबन्धनसे मुक्ति नहीं मिल सकती। इसलिये जो-जो कर्म करो सबको भगवान्‌की यज्ञमूर्तिमें

आहुति दे दो। इस प्रकार सब कर्म भस्मीभूत हो जायेंगे। भीतर कर्मका बीज नष्ट हो जानेपर भी जितने दिन शरीर रहता है उतने दिन पूर्वसंस्कारकी प्रेरणाके वश होकर शरीर कर्म करता रहता है। परन्तु अन्तमें यह शरीर भी नष्ट हो जाता है, उस समय पञ्चभूतका बन्धन भी टूट जाता है, उस समय तुम अपने स्वरूपमें पहुंच जाते हो और फिर तुमको संसारचक्रमें घूमना नहीं पड़ता। उसी समय तुम्हें पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यही साधारण कर्मयोगीका आदर्श है।

परन्तु कर्मयोगको इस प्रकार संकीर्ण बनाये विना भी काम चल सकता है। कर्म स्वयं बन्धनका कारण नहीं है। वन्धनका कारण है अहङ्कार और अज्ञान। कर्म भगवान्‌के ही स्वरूपसे उत्पन्न हुआ है। चित्-शक्तिकी द्युति ही कर्मके अन्दर विकसित हुई है, भागवत आनन्द ही कर्मके अन्दर मूर्तिमान् हुआ है। अहङ्कारका नाश करो, अज्ञानको दूर करो, परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि उनके साथ-साथ कर्मका भी नाश हो जायगा, कर्म भी न रहेगा। क्योंकि कर्मका आधार और भी अधिक सत्य और गभीर प्रदेशमें स्थित है। वास्तवमें सच्चा कर्मयोग तो हमें यह शिक्षा देता है कि अहङ्कार और अज्ञान-रूपी भीतरकी गन्दगी दूर होनेपर कर्मका स्रोत और भी अधिक शुद्ध और विपुल होकर बाहर फूट निकलता है। वास्तवमें

मुक्तिके बाद ही यथार्थ कर्मका होना सम्भव है, भीतर ब्राह्मीस्थितिको अक्षुण्ण बनाये रखकर ही हम बाहर कर्म-जीवनके विराट् खेलकी सृष्टि कर सकते हैं। उस समय हम जो कर्म करते हैं वह हमारे अन्तरात्माका, तुरीयका, भागवत प्रतिष्ठाका कर्म होता है—उस समय स्थाणु, मुक्त, अनन्त सत्ताको पीछेकी ओर जाग्रत् रखकर सचल शक्ति प्रकट होती है।

अब हम सहज ही समझ सकते हैं कि दो कारणोंसे मार्गत्रय हमें पूर्ण सन्तोष नहीं प्रदान करता। पहली बात तो यह है कि मार्गत्रयका लक्ष्य केवल आध्यात्मिकताकी, स्वरूपकी नग्नता है। अधिभूत जो है, रूप जो है, उसकी परिपूर्णता भी आध्यात्मिकता है—इस बातको इन तीनोंमेंसे किसीने स्वीकार नहीं किया है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान, प्रेम और कर्म ये मनुष्यकी तीनों वृत्तियां परस्पर इस प्रकार घुली-मिली हैं कि उन्हें एक-दूसरेसे एकदम अलग नहीं किया जा सकता और इसलिये ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोगके नामसे पृथक्-पृथक् पथ निश्चित करना कृत्रिमताकी सृष्टि करना है। जो सच्चा ज्ञानी है उसकी ईश्वरमें परानुरक्ति अपने-आप होती है। और भगवान्के साथ जो प्रेम करता है उसके अन्दर ही ज्ञान प्रस्फुटित हो उठता है। फिर ज्ञानकी, प्रेमकी सार्थकता है कर्मके अन्दर—जो कर्मी है उसका कर्म ज्ञानके अन्दर,

प्रेमके अन्दर विधृत होता है। इसलिये पूर्ण भावके साधक ज्ञान, प्रेम और कर्मको एक साथ चाहते हैं, अपनेको काटकर इनमेंसे किसी एककी एकदम उपेक्षा करने या उसे गौण स्थान देनेके लिये वे तैयार नहीं हैं।

हमने यह देख लिया कि विभिन्न योगमार्गोंकी विशेषताएं क्या हैं और साथ ही यह भी देख लिया कि उनके अन्दर किन बातोंकी कमी है। अब हम किस मार्गका अनुसरण करें? हम अपने भीतरी और बाहरी सभी स्तरोंकी, अपनी सारी सत्ताकी, सभी शक्तियोंकी पूर्ण अभिव्यक्ति चाहते हैं। हम भगवान्‌को सर्वतोभावेन चाहते हैं, हम उन्हें स्वरूपकी नग्नतामें भी चाहते हैं और रूपके ऐश्वर्यमें भी चाहते हैं। इस उद्देश्यकी सिद्धिमें हठयोग, राजयोग इत्यादि प्रत्येक मार्ग हमें कुछ-न-कुछ सहायता प्रदान कर सकते हैं। तब क्या हमें इन सब मार्गोंका एक साथ अभ्यास करना होगा? परंतु यह तो सम्भव नहीं। क्योंकि ये सभी मार्ग इतने विभिन्न प्रकारके हैं, प्रत्येक मार्गका अपना-अपना विशेष नियम, विशेष प्रक्रिया है और वे सब परस्पर इतने विरोधी, इतने सूक्ष्म, इतने जटिल हैं कि यदि इन सबका एक साथ अभ्यास करना पड़े तो हम केवल एक बृहत् विपत्तिकी ही सृष्टि करेंगे। और यह भी सम्भव नहीं कि बारी-बारीसे एकके बाद एक मार्गका अभ्यास करके सब मार्गोंमें सिद्धि प्राप्त कर लें।

बनी हुई चीजों की भी कोई आवश्यकता नहीं है। मट्ठे की जगह खट्टे निम्बू का रस और घी के जगह तेल का प्रयोग कर सकते हैं।

मनुष्य के शरीर की बनावट को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि मांस मनुष्य का प्राकृतिक भोजन नहीं है। डा० हेग एवं किंग्सफोर्ड ने हम लोगों पर मांस का जो बुरा प्रभाव पड़ता है—उसे सांफ साफ दिखला दिया है। वे इस बात को भली प्रकार समझा चुके हैं कि मांस भी दाल की तरह हानि पहुँचाने वाली वस्तु है। इससे दाँत असमय गिर जाते हैं और दमे की बीमारी हो जाती है। इससे मनुष्य का खून उत्तेजित होकर स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। हम पहले ही कह आये हैं कि यह भी एक प्रकार का रोग है। बड़े शर्म की बात है कि बहुत से विचारशील और बुद्धिमान शाकाहारी मनुष्य इसके गुण अवगुणों को जानते हुये भी मांसाहारी बने हुये हैं। अन्त में हम इसी नतीजे पर आते हैं कि बहुत कम मनुष्य ऐसे हैं जो फलाहार पर जीवन बिताते हैं। फिर भी हम निःसंकोच कह सकते हैं कि गेहूँ और मीठा बादाम खा कर रहना बहुत आसान है।

सारांश यह कि फल पर जीवन व्यतीत करने वाले लोग बहुत कम हैं। फल, गेहूँ और जैतून के तेल पर रहना बहुत लाभप्रद है फलों में केले का स्थान सर्वप्रथम है। केला सन्तरा, खजूर, अंगूर और आलूचा भी अत्यन्त पुष्टिकर हैं, और रोटी के साथ खाये जा सकते हैं। जैतून के साथ रोटी स्वादहीन नहीं होती। ऐसे भोजन में अड़चन कम है, और पैसे भी कम खर्च होते हैं। इस भोजन में नमक, मिर्च, दूध और चीनी की आवश्यकता नहीं पड़ती। खाली चीनी खाना तो बहुत ही हानिकारक है। अधिक मिठाई खाने से दाँत खराब होते हैं और स्वास्थ्य पर भी इसका पुरा प्रभाव पड़ता है। अच्छा खाद्य पदार्थ

वैदान्तिक योग और तांत्रिक योग

अगर हम थोड़ा विचार करके देखें तो हमें मालूम होगा कि इससे पूर्व जिन साधारण प्रचलित योगमार्गोंका विवरण दिया गया है उन सबके पीछे एक ही मूल भाव वर्तमान है—ऊपरसे देखनेमें चाहे वे जितने भी विभिन्न क्यों न मालूम हों। जिस मूल वस्तुका आश्रय लेकर हम इन सब साधन-पथोंपर चलते हैं वह है ज्ञान और इसलिये उन सबको वैदान्तिक मार्ग कहा जा सकता है। चाहे ज्ञानयोगी हों, भक्तियोगी हों, अथवा कर्मयोगी हों, सभी साधक ज्ञानके ऊपर निर्भर करते हैं, मूलतः ज्ञानको ही लक्ष्य मानकर और उसे ही उपायके रूपमें ग्रहण करके वे साधनमार्गमें अग्रसर होते हैं। ज्ञानीका विचार-वितर्क ज्ञानका एक रूप मात्र है—इस ज्ञानका अधिष्ठान बुद्धिमें है। भक्त या कर्मीका ज्ञान भी तर्कबुद्धिप्रसूत न होनेपर भी, है ज्ञान ही। भक्तके ज्ञानका अधिष्ठान हृदयमें है—वह ज्ञान प्रेम, श्रद्धा और विश्वासके भीतरसे होकर प्रस्फुटित होता है। और कर्मीका ज्ञान उसकी इच्छाशक्तिके पीछे होता है, यह ज्ञान ही इच्छाशक्तिके द्वारा कर्मके रूपमें मूर्तिमान् हो उठता है। राजयोग, हठयोग इत्यादिके पीछे भी ज्ञानका यह प्राधान्य

ही वर्तमान है। इन सब योगोंमें पुरुष ही साधक है, आत्मा ही द्रष्टा, ज्ञाता, अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता-रूपमें साधना करता है, वही इस बातका निश्चय करता है कि किसे रखना होगा, किसका त्याग करना होगा, आधारको किस प्रकार सजाना होगा। वास्तवमें इन सब योगमार्गोंके अनुसार यह पुरुष ही लक्ष्य है—इस चैतन्यमय आत्मसत्ताके साथ युक्त होना ही योगसिद्धि है।

किन्तु भारतवर्षमें इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकारका योग भी प्रचलित है जिसकी प्रतिष्ठा ज्ञानके ऊपर नहीं है, जिसका नियन्ता पुरुष नहीं है। इस योगका नाम है तांत्रिक योग। इस योगमें साधक प्रकृति होती है और इसका उपाय है शक्ति। जिस साधनामें पुरुष साधक होता है और ज्ञान उपाय, उसमें मूल वस्तु होती है उदासीनता, जगत्के खेलसे अपनेको विच्छिन्न कर लेना, हटा लेना। परन्तु तांत्रिक इस खेलका स्वागत करते हैं, प्रकृतिके अन्तस्तलमें जो आद्याशक्ति, जो तपःशक्ति विद्यमान है उसीके अदम्य बलसे, उसीकी स्वतःस्फूर्त प्रेरणाके अनुसार वे चलते हैं। वैदान्तिक साधक प्रकृतिको मायामयी समझते हैं। उनके मतानुसार प्रकृति अन्धी, उच्छृंखल है, इसके अन्दर चेतनाकी जितनी-सी छाया दिखायी देती है वह इसे पुरुषके संस्पर्शसे प्राप्त होती है। इसीलिये वैदान्तिक साधक अपनेको प्रकृतिके हाथमें छोड़ना नहीं चाहते, और न प्रकृतिको

अपनी सहज, स्वच्छन्द गतिसे कार्य करने, विकसित होने देना ही उनका लक्ष्य होता है। परन्तु तांत्रिक प्रकृतिको चिन्मयी मानते हैं। इसी कारण प्रकृतिकी प्रेरणापर ही पूर्ण रूपसे निर्भर करके चलनेमें उन्हें तनिक भी आपत्ति नहीं होती। वैदान्तिक साधकोंका उद्देश्य है पुरुषको प्रकृतिकी छायासे धीरे-धीरे मुक्त कर लेना। परन्तु तांत्रिक प्रकृतिको, जगत्-शक्तिके समस्त खेलको सत्य मानकर, आनन्दमय मानकर उसका आलिंगन करते हैं और इसीलिये उन्होंने प्रकृतिको पुरुषसे भी ऊंचा स्थान दिया है, शक्तिको ही अध्यात्म-जीवनकी सम्राज्ञीके रूपमें वरण किया है।

साधारण जीवनकी जो खण्डता, अपूर्णता है, आधारकी जो असमर्थता, मलिनता है उसे दूर कर, उसका निग्रह कर, उसकी ओरसे अपना सारा ध्यान हटाकर जीवनके, आधारके पीछे, उनके परे जो एक कूटस्थ, नित्यशुद्ध, पूर्ण, अद्वैत वस्तु है, उसीको वैदान्तिक योगी अपने ध्यानमें, मनकी एकाग्रतामें प्रकाशित करना चाहते हैं। परंतु तांत्रिक कहते हैं कि जीवनकी पूर्णताका मूल जीवनके अन्दर ही है, आधारकी शुद्धिका साधन आधारके अन्दर ही है, और कहीं नहीं है। तांत्रिकोंने प्रकृतिके अन्दर ही एक ऐसे मौलिक तत्त्वको पाया है जिसका प्राण है अदम्य बल, अनन्त शक्ति, अव्याहत कर्म-प्रेरणा। और साथ ही वह शुद्ध, पूर्ण और चैतन्यदीप्त है। जीवनकी, आधारकी इन अधिष्ठात्री देवीके

इशारेके अनुसार ही वे जीवनकी कर्मप्रचुर और भोग-बहुल विक्षुब्धताके, आधारकी सारी प्राकृत प्रेरणाओंके अन्दरसे गुजरते हुए अपने जीवनको, आधारको गढ़ते हैं।

वैदांतिक साधनाका विषय है सत् और उपाय है वैराग्य। तांत्रिक साधनाका विषय है तपःशक्ति और उपाय है भोग। वैदांतिक पुरुषको सर्वोपरि मानते हैं और तांत्रिक प्रकृतिको। किंतु इस प्रकार वैदान्तिकों और तांत्रिकोंने जो सत्के विरुद्ध शक्तिको और शक्तिके विरुद्ध सत्को खड़ा किया है, इसके कारण उन दोनोंने ही सत्यके एक अर्द्धांश-को ही प्राप्त किया है। वैदांतिकोंने शक्तिको खोकर सृष्टि-के, भोगके आनन्दसे रहित साधु-संन्यासियोंकी सृष्टि की है; और उसी प्रकार तांत्रिकोंने सत्को खोकर प्रकृतिके उन्मार्ग-गामी स्रोतमें अपनेको बहा दिया है और अनाचारी, कलुषित भैरव-भैरवियोंको उत्पन्न किया है। वैदान्तिकोंने जिस प्रकार त्यागके लिये ही त्यागको महान् माना है उसी प्रकार तांत्रिकोंने भोगके लिये ही भोगको महत्व प्रदान किया है। जो उपाय या सहाय मात्र है उसीको इन दोनोंने अपने लक्ष्यसे भी बड़ा मान लिया है।

परंतु वास्तवमें सत् और शक्ति, पुरुष और प्रकृति, यहांतक कि त्याग और भोगमें भी कोई विरोध नहीं है। इनमें एक श्रेष्ठ और दूसरा निकृष्ट नहीं है, बल्कि दोनों ही एक श्रेणीकी चीजें हैं। पूर्णयोगका जो सामंजस्य है उसका

मूल यहींपर है। पूर्णयोगकी दृष्टिमें आत्मा या पुरुष है ईश्वर और प्रकृति है उसी ईश्वरकी अपनी कर्मसंपादिका शक्ति। पुरुष अथवा सत् है शुद्ध, अखण्ड, असीम आत्म-सत्ता और शक्ति है चित्-शक्ति—उस शुद्ध आत्मसत्ताकी ही चेतनाकी प्रेरणा, लीला। स्थिति और गति, विराम और कर्ममें जो संबंध है वही सम्बन्ध उन दोनोंमें भी है। शक्ति या कर्मप्रेरणा जब केवल 'अस्ति' को चेतनाके आनन्दमें विलीन हुई रहती है तब उसे स्थिति या विश्राम कहते हैं। इसीका दूसरा नाम है त्याग। और फिर जब पुरुष अपनी शक्तिके बहुविध कर्मोंमें अपनेको फैला देता है तब कर्म होता है, सृष्टि होती है, और तब 'अस्ति'का नहीं प्रत्युत 'संभूति'का आनन्द होता है; इसीका नाम है भोग। यह संभूतिका आनन्द ही सृष्टिकी, जागतिक प्रकाशकी जननी है, मूल कारण है। और जिसकी सहायतासे, जिस उपायके द्वारा आनन्द समस्त वस्तुओंकी सृष्टि करता है, 'एक' 'बहु' होता है उसे ही तपः कहते हैं।

यह तपःशक्ति पुरुषकी ही चित्-शक्ति है अर्थात् जब चिन्मय पुरुष अपनी शुद्ध सत्ताके अन्दर निहित अव्यक्त अनन्त रूप-संभावनीयताके ऊपर अपनी चेतनाको क्रियान्वित करता है तब वस्तुका भावमय रूप प्रकट होता है, व्यष्टिका, विशिष्टका ऋतमय सत्यमय अन्तरात्मा उद्भूत होता है—इसीका नाम है विज्ञान। यह विज्ञान या सत्यभाव, समस्त

ज्ञान और समस्त शक्तिके आधारभूत आत्मसत्तासे उत्पन्न होनेके कारण अपने-आपको अव्यर्थ रूपसे परिपूर्ण करनेका प्रयास कर रहा है। हमारे शरीर, प्राण और मनके पीछे इस विज्ञानका धर्म विद्यमान है। फिर यह विज्ञान एक नैसर्गिक प्रेरणाके बलसे देह, प्राण और मनके अन्दर रूप ग्रहण कर अपनेको जागृत, प्रकाशित करनेकी चेष्टा कर रहा है। वास्तवमें सभी योगसाधनाएं इस चित्-भाव, इस विज्ञान, इस सत्यं ऋतं बृहत्को अप्रत्याहत कार्यकारिताके ऊपर ही प्रतिष्ठित हैं। सभी योगमार्ग इसीके अनुसार चलते हैं। गीतामें श्रीभगवान्ने इसी सत्यको ध्यानमें रखकर कितनी ही बार कहा है कि 'श्रद्धान्वित' 'भावसमन्वित' होकर जो व्यक्ति जो कुछ चाहता है वह उसे पाता है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, जैसा जिसका भाव होता है वह वैसा ही होता है। यो यत्-श्रद्धः स एव सः।

पूर्णयोगका स्वरूप

अब योगकी पहली बात, जहांसे हम आरंभ करेंगे, वह यह है कि हम किस भाव और किस श्रद्धासे प्रकृतिको देखते हैं। हम पहले कह चुके हैं कि मूलतः प्रकृति है अपनी ही शक्तिके द्वारा किया हुआ पुरुषका आत्मविकास, उसकी आत्मचरितार्थता। परन्तु कार्यतः प्रकृतिकी दो गतियां हैं, दो तरहके खेल हैं। एक गति तो है साधारण, नित्य-नैमित्तिक और दूसरी है उसकी एक निगूढ़ दिव्यमूर्ति; एक ऊपरके स्तरकी है और दूसरी नीचेकी स्तरकी। साधारण तौरपर हम जैसा जीवन बिताते हैं, अहंकारके वशीभूत होकर, अज्ञान, अशक्ति, दुःख इत्यादिके हाथकी कठपुतली बनकर जो जीवन बिताते हैं वही है प्रकृतिके नीचेके स्तरका खेल या प्राकृत जीवन। परन्तु अहंकारके परे जाकर, क्षुद्रता, भेदबुद्धिको अतिक्रम कर जब हम ज्ञान, शक्ति और आनन्दके अन्दर ऊपर उठ जाते हैं तब हमें प्राप्त होती है प्रकृतिकी परामूर्ति और उसीपर प्रतिष्ठित होता है दिव्य जीवन। इस नीचेके स्तरसे ऊपर उठनेका नाम ही है योग। यह दो तरहसे किया जा सकता है—(१) या तो हम नीचेसे एकदम ऊपर उठ जा सकते हैं, प्रकृतिकी अपरा क्रियाका पूर्ण रूपसे त्याग कर अन्यत्र चले जा सकते

हैं अथवा (२) निम्नको, इहको केवल परिवर्तित, परिशुद्ध करके उसे उच्चतर स्तरमें, अमूर्तके अन्दर उठा ले जा सकते हैं।

परन्तु लक्ष्य हमारा कुछ भी क्यों न हो, हमारी स्थिति तो इस नीचेके स्तरमें ही है, अतएव इसीका आश्रय ग्रहण करके हमें ऊपरके स्तरको पाना होगा। साधारण सभी योगोंका लक्ष्य है इसका त्याग करना और इसलिये उनका मार्ग है प्राकृत प्रेरणाकी दो-एक विशेष प्रवृत्तियोंका आश्रय कर, और सब कुछ भूलकर, उन्हींकी सहायतासे अन्तमें समुच्च स्तरमें भगवान्के साथ घुलमिल जाना। परन्तु पूर्ण-योगी चाहते हैं दूसरी वस्तुको, वे चाहते हैं प्राकृतके अन्दर प्रतिष्ठित रहकर उसीके अन्दर अतिप्राकृतके दिव्य 'खेलको प्रस्फुटित करना। क्योंकि प्रकृतिके प्राकृत खेलके अन्दर पुरुषकी, भगवान्की ही निगूढ़ प्रेरणा प्रस्फुटित हो रही है। अन्तर्यामीका पूर्ण विकास ही, पूर्ण चरितार्थता ही है पूर्ण सत्य—उसीमें प्रकृतिकी पूर्ण सार्थकता है। इसी कारण पूर्णयोगी जीवनके किसी खंडित या विशेष प्रकरणके अन्दर अपनेको बांध नहीं रखते। उनका समूचा जीवन ही होता है योग। जीवनके सभी वैचित्र्यों, सभी जटिलताओंको, जितने छोटे-बड़े कार्य-कलाप हैं उन सबको अन्तर्भुक्त कर देना होगा योगके अन्दर। साधारण जीवनमें प्रकृति अखंड रूपमें अपनी पूर्ण क्रियाके साथ हमारे अन्दर खेलती है। इसी कारण पूर्णयोगके साधक सिद्ध जीवनमें प्रकृतिके पूर्ण

अखण्ड खेलको प्राप्त करना चाहते हैं। अन्तर केवल इतना ही होगा कि साधारण जीवनमें हम प्रकृतिकी स्थूल गतिके आधार होते हैं और योगयुक्त जीवनमें हम दिव्य प्रकृतिके आधार होंगे। अपनी समग्र सत्ताको ही परिवर्तित करके प्रस्थापित करना होगा भागवत सत्ताकी व्यंजनाके अन्दर।

अतएव इसका उपाय यह है कि अपनी समस्त सत्ताको ज्ञानपूर्वक भागवत सत्ताके साथ संयुक्त, सम्मिलित कर दिया जाय। भगवान्‌को नीचे बुलाकर प्रतिष्ठित करना होगा इसी पार्थिव स्तरमें, उन्हींके प्रभावसे हमारी प्रकृति उन्हींकी प्रकृतिके अनुरूप बन जायगी। एक तरहसे स्वयं भगवान् ही होंगे हमारी साधनाके साधक, हमारे अन्तरस्थित पुरुष, हमारे योगके नियन्ता। वही हमारी व्यक्तिगत सत्ताका आश्रय कर, यंत्रवत् उसे परिचालित कर, अपनी दिव्यमूर्त्ति प्रकट करेंगे। कारण हम पहले कह चुके हैं कि हम, हमारा जीवन, हमारी पूरी सत्ता है मात्र एक भाव या तपःशक्तिकी अभिव्यञ्जना। हमारी जो अन्तरस्थित दिव्य प्रकृति है, हम अखण्ड रूपमें जो वस्तु हैं, वह निहित है उसी भाव, उसी तपःशक्तिके अन्दर। अगर हम इस तपःशक्तिको जागृत कर सकें तब यह अपने भावको, चेतनाको अव्यर्थ, अखण्ड रूपमें प्रसारित कर हमारी प्राकृत प्रकृतिको परिवर्तित कर देगी और अपनी दिव्य अखण्ड प्रकृतिको उसके अन्दर प्रतिष्ठित कर देगी। जो अभी खण्डित है, जो अभी तमसा-

वृत है, उसीके अन्दर अवतीर्ण होगा वह जो दिव्य है, जो सर्वज्ञ है, जो सर्वकृत् है। और यही वस्तु क्रमशः हमारी नित्य-नैमित्तिक समस्त प्रकृतिको शुद्ध, ज्ञानोद्भासित, वीर्यपरिप्लुत बना देगी, संपूर्ण मानवीय ज्ञान, समस्त नश्वर कर्मचेष्टाके स्थानमें अपनी दैवी लीलाको प्रस्फुटित कर देगी।

पूर्णयोगकी यह जो प्रधान बात है भागवत भाव, पूर्ण विज्ञानशक्तिको प्रकट करना, साधनाकी दृष्टिसे इसीका अर्थ है अहंकार-विसर्जन। अहं और उसके सभी क्षेत्रोंको क्रमशः उत्सर्ग करना होगा अहंके परे जो सद्वस्तु है उसके निकट, उसकी विराट्, दुर्लक्ष्य अथच अव्यर्थ कर्म-प्रेरणाके निकट। यह साधनमार्ग न तो सहज है न सरल। इस पथमें विपुल श्रद्धा, अकुंठित साहस और अटूट धैर्यकी आवश्यकता है। कारण इसमें हमें तीन सोपान दिखायी देते हैं और जब हम अन्तिम सोपानमें पहुंच जाते हैं केवल तभी हमारी साधना कण्टकहीन और द्रुतगामी होती है। पहला सोपान है अहं-की दिव्य भागवत सत्ताके, उस बृहत्, उस पूर्णके संस्पर्शमें आनेकी चेष्टा। फलस्वरूप इसके बाद अपनी समस्त निम्न प्रकृतिको दिव्य प्रेरणाकी सहायतासे धीरे-धीरे नये रूपमें गढ़ना और उसे समुच्च भागवत प्रकृतिमें परिवर्तित करना। और अन्तिम सोपान वह है जहां यह परिवर्तन पूर्ण हो जाता है। किन्तु यह पथ चाहे जितना भी दुर्गम क्यों न हो, इस पथमें हम अपनी शक्तिसे नहीं चलते। हम अहं-

कारको पग-पगपर दूर करते हुए आगे बढ़ते हैं, इस कारण भागवत शक्ति परोक्ष रूपमें, परदेकी आड़में रहती हुई निरन्तर हमारी दुर्बलताओंका स्थान ग्रहण करती है, श्रद्धा, साहस या धैर्यका जब अभाव होता है तब वही हमें पकड़े रखती है। यही शक्ति है जो अन्धेको भी आंख देती है और पंगुसे पर्वतलंघन कराती है। उस समय बुद्धिको एक ऐसे विधानका या वस्तुओंके अन्तर्निहित एक ऐसे धर्मका पता लगता है जिसकी अव्यर्थ गति होती है भद्रके, कल्याण-के ही इर्दगिर्द। हृदय प्राप्त करता है एक प्रभु, एक सखा अथवा एक विश्वमाताको जो प्रत्येक पदस्खलनके समय हमें पकड़कर उठाती हैं। इस पथमें जितनी बाधाएं, जितनी विपत्तियां हैं उनके मुकाबले अन्य किसी पथमें कुछ भी नहीं, परन्तु जब हम इसके लक्ष्यको स्मरण करते हैं, इसके प्रयास-की विपुलताको देखते हैं——मनुष्यकी प्रकृतिको परिवर्तित कर उसके सभी अङ्गोंको अक्षुण्ण रखते हुए एक दूसरे धर्मके साथ उसे जगत्‌के, जीवनके कर्ममें ही प्रतिष्ठित कर रखनेकी बात सोचते हैं तब उसकी तुलनामें ऐसा मालूम होता है कि इस पथके समान सहज और कोई पथ नहीं है, ऐसा अव्यर्थ, सुनिश्चित पथ भी दूसरा कोई नहीं है।

पूर्णयोगकी कार्यप्रणाली

हमारी पराप्रकृति जब हमारी अपरा प्रकृतिके ऊपर अखंड रूपसे क्रिया करने लगती है, हमारे प्राकृत स्वभावके सभी अंगोंमें जब भागवत स्वभाव उतरने लगता है, तब वह जिस रूपमें, जिस प्रणालीसे कार्य करता है उसके तीन लक्षण हमें दिखायी देते हैं। पहले तो हम यह देखते हैं कि उसमें कोई यथाविहित अकाट्य नियम या परम्परा नहीं है। विशेष-विशेष योग-प्रणालियोंमें नपे-तुले नियम-कानून हैं, साधक उनसे अपनेको बांधकर एकके बाद एक स्तरको पार करता हुआ आगे बढ़ता है। परन्तु पूर्णयोगका साधक अग्रसर होता है एक मुक्त, यथेच्छ गतिके अन्दरसे होता हुआ। इस योगमें साधनाकी शक्ति कार्य करती है विक्षिप्त भावसे, किसी विशेष विधानके अन्दर वह पूर्ण रूपसे बंधी हुई नहीं होती, फिर भी वह शक्ति उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती है, निगूढ़ भावेन अपने उद्देश्यको सिद्ध करती हुई अग्रसर होती है। साधककी प्रकृति, उस प्रकृतिके अन्दर वर्तमान जो सब उपकरण शुद्धि और सिद्धिमें सहायक हैं और जो सब बाधक हैं उन सबके अनुसार ही नियमित रूपसे वह शक्ति परिचालित होती है। किसी योग-विशेषके सभी साधकोंको चलना होता है एक ही पथसे, एक ही

ढंगसे—सरल रेखामें, एकदम सीधे। पूर्णयोगका साधक अपनी अन्तःस्थित निगूढ़ प्रयोजनके अनुसार चलता है घूमता-फिरता हुआ, एक उदार विस्तारके अन्दरसे होता हुआ, अपनी समस्त प्रकृतिको विकसित, प्रस्फुटित होनेका यथेष्ट अवसर प्रदान करता हुआ। पूर्णयोगके प्रत्येक साधक-का अपना स्वतंत्र पथ होता है, प्रत्येक साधक अपने स्वभावकी आवश्यकताके अनुसार अपनी-अपनी साधन-पद्धति निर्माण करता हुआ आगे बढ़ता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सबके अन्दर साधारण धर्म नामकी कोई चीज एकदम नहीं है। किसी कठोर, संकीर्ण सांचेमें ढाले बिना भी हम पूर्णयोगके कार्यकी एक प्रणाली निश्चित कर सकते हैं, पूर्णयोगका एक शास्त्र निर्मित कर सकते हैं। प्रकृतिकी कार्यप्रणालीमें कैसी मुक्त, स्वच्छन्द गति विद्यमान है! वहां जड़यन्त्रकी अलंध्य गतानुगतिकता नहीं है, प्रकृतिकी बाध्य-बाधकता नहीं है---फिर भी वहांपर है एक नियम, एक धर्म, केवल वह है उदार, सूक्ष्म, वह है सब प्रकारकी स्वतंत्रता, स्वेच्छाचारिताको आलिंगन किये हुए; वह है प्राणका धर्म। प्रकृतिका यही प्राणधर्म पूर्णयोगके अन्दर क्रिया करता है।

दूसरे, पूर्णयोगकी कार्यप्रणाली है पूर्ण, अखण्ड; वह साधककी समग्र प्रकृतिको लेकर चलती है। अतएव अपने समस्त अतीतकी परिणतिके फल-स्वरूप आज हम जिस प्रकृतिके आधार बन सके हैं, उसका कोई भी

आवश्यक उपकरण वर्जित नहीं होता, बल्कि सब-के-सब केवल परिवर्तित होकर भागवत सत्तासे भर जाते हैं। हमारे अन्दरकी प्रत्येक वस्तुको ही एक महाशिल्पी अपने हाथमें ले लेते हैं और अभी जिस वस्तुको हमारी प्रकृति अति क्षीण और अस्पष्ट रूपमें प्रकाशित करना चाहती है, उसी वस्तुकी ज्वलंत मूर्तिके रूपमें उसे गढ़ डालते हैं। हमारी उपलब्धि, हमारी दृष्टि जितनी ही अधिक स्पष्ट और पूर्ण होती जाती है उतना ही अधिक हम यह समझने लगते हैं कि हमारी निम्नतर प्रकृति, हमारे दैनन्दिन जीवनका आधार किन-किन उपकरणोंसे बना हुआ है, उतना ही अधिक हम यह देखने लगते हैं कि उसके अन्दर जो कुछ भी क्षुद्र, तुच्छ, हेय, विकृत क्यों न मालूम होता हो, उस प्रत्येक चीजके अन्दर निहित है एक सत्य, एक ऋत, जिसका स्थान और कर्म दिव्य भागवत प्रकृतिके महासामंजस्यके अन्दर निर्दिष्ट है। मानव-प्रकृतिके सभी स्तरोंका, आधारके प्रत्येक अंगका ही एक सत्य आत्मा, एक सत्य धर्म, एक सत्य कर्म है और उन सबको प्रस्फुटित करके, जाग्रत रूपमें प्रतिष्ठित करके पूर्णयोग भगवान्की पूर्णताको गठित करता है।

तीसरे, पूर्णयोगमें हमारी अन्तःस्थित भागवत शक्ति हमारे समग्र जीवनको ही उपायके रूपमें व्यवहृत करती है। हमारी प्रत्येक अभिज्ञता, बाह्य जगत्के साथ हमारा प्रत्येक स्पर्श चाहे जितना भी नगण्य क्यों न हो अथवा

चाहे जितना अधिक मारात्मक क्यों न हो, वह इन सबके द्वारा कार्य करती है। अन्तरकी प्रत्येक अनुभूति, प्रत्येक मर्मभेदी यातना, साधन-पथका प्रत्येक पदस्खलन भी हमारा सहायक होता है, सिद्धिकी ओर हमें निश्चित रूपसे ले जाता है। हमारी आंखें खुल जाती हैं, हम यह हृदयंगम करने लगते हैं कि भगवान् जगत्के अन्दर जिस प्रणालीसे कार्य कर रहे हैं हमारे अन्तरमें भी वह ठीक उसी प्रणाली-का अनुसरण कर रहे हैं। जगत्में हम देखते हैं कि अन्धकारके भीतरसे ही वह प्रकाश बाहर कर रहे हैं, दुर्बल, पतितके अन्दर भी शक्तिके अभ्युत्थानका बीज वपन कर रहे हैं, जो दुःखदायक है, जो कष्टकर है उसको भी आनन्दके मूल स्रोतके रूपमें परिवर्त्तित कर रहे हैं। प्राकृत जगत्में जो हम देखते हैं, आध्यात्मिक जगत्में भी हम वही एक ही लीला देखते हैं। अवश्य ही प्राकृत जगत्में शक्ति कार्य करती है बहुत धीरे-धीरे, अज्ञानपूर्वक और दूसरेमें शक्ति होती है क्षिप्र, जाग्रत, चेतनामय, जो यंत्र होता है वह पहचानता है, स्वीकार करता है यंत्रीको, प्रभुको।

विश्वजीवन ही है प्रकृतिका योग। प्रकृति अपने भीतर निगूढ़ भगवान्को प्रकट करनेकी चेष्टा करती है। विश्वप्रकृतिकी यह आत्मविस्मृत चेष्टा जब मनुष्यके अन्दर सचेतन, आत्मज्ञानसे पूर्ण हो जाती है, अपने उद्देश्यको

यथार्थ रूपमें परिपूर्ण करनेका सामर्थ्य जब उसमें उत्पन्न होता है तभी हम प्राकृतिक स्तरसे ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्तरमें पहुंच जाते हैं, तभी हमारे अन्दर प्राकृतिक शक्तिके स्थानमें योगशक्ति आविर्भूत होती है। प्रकृतिके अन्दर जो शक्ति विक्षिप्त, अवयवहीन, भग्न-स्रोत पर साथ ही विपुल और सर्वव्यापी है उसीको संहत, सुविन्यस्त और चक्षुष्मान बनाकर पूर्णयोग-शक्ति कार्य करती है।

पूर्णयोगका फल

जिस तरह पूर्णयोगकी साधनप्रणाली पूर्ण, अखण्ड है, उसी तरह उसका फल भी पूर्ण, अखण्ड है।

सर्वप्रथम तो हमें इस योगमें भागवत सत्ताकी पूर्ण, अखण्ड उपलब्धि होती है। भगवान्‌को हम पूर्ण रूपसे पाते हैं अर्थात् भगवान्‌का जो भेदहीन, अद्वितीय एकत्व है केवल उसीको नहीं बल्कि उनका जो अनन्त रूप-वैचित्र्य है उसको भी हम प्राप्त करते हैं—आत्माके अन्दर जो एकत्व है केवल उसीको नहीं, वरन् हम उस एकत्वको भी हृदयंगम करते हैं जो वर्तमान है कर्मके, सृष्टिके, सभी जीवोंके, बहुत्वके खेलके अन्दर।

और इसीलिये इस योगमें हमें प्राप्त होती है पूर्ण, अखण्ड मुक्ति। केवल सायुज्य मुक्ति नहीं—सायुज्य मुक्तिमें आत्माकी व्यक्तिगत सत्ता भेदज्ञान, द्वन्द्वबोधके अन्दर भी स्पर्श किये रहती है भागवत सत्ताको; केवल सालोक्य मुक्ति नहीं—सालोक्य मुक्तिमें हमारी चेतना जाग्रत रहती है उसी भागवत लोकमें, सच्चिदानंदके अन्दर; बल्कि पूर्णयोग देता है साधर्म्य मुक्ति भी, अर्थात् उस समय हमारा और भगवान्‌का एक ही धर्म हो जाता है, हमारे आधारका निम्नस्तर—उसकी सारी सत्ता, सारे कर्म पूर्ण

रूपसे गठित होते हैं, परिचालित होते हैं भागवत सत्ताके द्वारा, भागवत प्रेरणाके द्वारा, उस समय भगवान् ही धारण करते हैं मानुषी रूप ।

इस अखंड उपलब्धि और इस अखण्ड मुक्तिका फल है ज्ञान, प्रेम और कर्मका पूर्ण सामंजस्य । क्योंकि उस समय 'अहं' ज्ञान विलुप्त हो जाता है, उस समय हम अपनी चेतनामें उस 'एक' के साथ एकीभूत हो जाते हैं जो सबके अन्दर और सबके परे विराजमान है । और यह चेतना, यह ज्ञान जब खण्डित नहीं रहता तब तो हम सहज हो जिस तरह कैवल्यके, एकत्वके आनन्दका उपभोग करते हैं, ठीक उसी तरह 'बहु' के, वैचित्र्यके रसका भी उपभोग करते हैं । उस समय हम सत्ताके निगूढ़, समुच्च प्रतिष्ठानमें प्रेममयके साथ युक्त होकर इस जगत्‌के ही बहुविध सम्बन्धोंके अन्दर प्रेमानन्दके आसनको प्रसारित करते हैं । और जब इस तरह हम जगत्‌का, जीवनका आलिंगन करते हैं, जब अन्तरात्मामें उस उदार मुक्तिको पाते हैं जो जगत्‌से विमुख होनेपर निर्भर नहीं करती बल्कि जगत्‌को स्वीकार करनेपर भी अव्याहत रहती है, तब हमारे शरीर और मनमें भागवत प्रेरणाका ही स्रोत प्रवाहित होने लगता है, जगत्‌में हमारे द्वारा भागवत कर्म ही सम्पादित होने लगता है ।

भागवत जीवन केवल मुक्तिको ही नहीं कहते, उसमें शुद्धि, मुक्ति और सिद्धि भी शामिल है । अखण्ड शुद्धि

एक ओर तो भागवत सत्ताको हमारी सत्ताके अन्दर पूर्ण रूपसे प्रतिफलित करती है और दूसरी ओर सत्ताका जो सत्य धर्म और सत्य कर्म—ऋत—है, उसको भी हमारे कर्मजीवनमें प्रस्फुटित करती है। जिन जटिल यंत्रोंके द्वारा हमारा आधार गठित है वे जबतक शुद्ध नहीं हो जाते, जबतक भागवत प्रेरणाकी प्रणाली नहीं बन जाते तबतक पूर्ण मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। और जब हमें यह शुद्धि प्राप्त हो जाती है तब हमें पूर्ण मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है—जगत्के परे जो आनन्दघन है उसका भी हम उपभोग करते हैं और जगत्में जितनी वस्तुएं हैं उन सबको उसी आनन्दस्वरूपका प्रतीक, विग्रह मानकर उनका भी रसास्वादन करते हैं। आधारके शुद्ध हो जानेपर, उसके प्रत्येक स्तरमें भागवत आनन्दके प्रतिष्ठित हो जानेपर मनुष्य बन जाता है मानवधर्मावलम्बी भगवान्—उसीका नाम है सिद्धि। उस समय मनुष्यकी प्रकृतिमें भगवान् आविर्भूत होते हैं, उसकी सत्तामें, उसके प्रेममें, उसके आनन्दमें, उसके ज्ञानमें और उसके कर्ममें वही ईश्वर प्रकट होते हैं जो एक साथ ही एक भी हैं और बहु भी हैं, ज्ञान भी हैं और शक्ति भी हैं, सत् भी हैं और तपः भी हैं—उस समय मनुष्य मनुष्य-रूपमें ही पूर्ण, सार्थक हो जाता है—किसी अंशका, किसी अंगका, किसी क्षेत्रका त्याग करके नहीं, वरन् सबका आलिंगन करके उस

समय मनुष्य अपनी अखण्ड समग्रतामें महीयान हो उठता है।

और सिद्धिका अर्थ है मनकी भी सिद्धि और शरीरकी भी सिद्धि। अतएव राजयोग और हठयोग दोनों-का जो फल है वह भी पूर्णयोगमें मिल जाता है। केवल इतना ही नहीं, मनकी और शरीरकी पूर्ण सिद्धि पूर्णयोग प्रदान करता है, अन्यथा इस योगकी पूर्णता ही नहीं हो सकती। अवश्य ही मन और शरीरके अन्दर उनका निगूढ़ आध्यात्मिक धर्म विकसित होता है। मनके लिये ही मन नहीं है, शरीरके लिये ही शरीर नहीं है—आत्माके, भगवान्के लिये ही मन है, आत्माके, भगवान्के लिये ही शरीर है। अतएव प्राकृतिक जगत्में जो हम देखते हैं कि यहां तीन स्तर, तीन प्रतिष्ठान विकसित हुए हैं या हो रहे हैं—स्थूल जगत्, मानसिक जगत् और आध्यात्मिक जगत्—उन तीनोंमें पूर्णयोग सामञ्जस्य स्थापित करता है। स्थूल जगत् है प्रतिष्ठा, आधारभूमि; मानसिक जगत् है करण, यन्त्र, प्रणाली और आध्यात्मिक जगत् है वह प्रस्रवण, वह आदर्श, वह लक्ष्य, वह साध्य जिसे इस अन्तःकरण, इस मध्यवर्त्ती लोककी सहायतासे बाहर स्थूल जगत्में प्रतिष्ठित करना होगा। पूर्णयोग इस जगत्में रहकर, जगत्के सारे कर्मोंमें लिप्त रहकर अतिजगत्की आध्यात्मिक प्रतिभाको मूर्तिमान करनेका प्रयास करता है।

और यह जो अखण्डता, पूर्णता है यह विश्वमानवको लिये हुए है। यदि यह केवल व्यक्तिमें ही आबद्ध रहे तो यह वास्तविक पूर्णता नहीं होगी और होना सम्भव भी नहीं है। कारण जब हमने पूर्ण भगवान्‌की उपलब्धि पायी है, जब वह भगवान् जैसे हमारे भीतर हैं वैसे ही बाहर भी हैं, हमारे भीतर जैसे हैं ठीक वैसे ही और सब मनुष्योंके भीतर भी हैं, तब हमारी अपनी पूर्णता, अपनी सिद्धि सम्भव होगी सब मनुष्योंकी पूर्णता, सब मनुष्योंकी सिद्धिके ही भीतर; हम विश्वमानवके साथ जो एकात्मता अनुभव करते हैं वह तो निश्चित रूपसे हमें इस प्रकार चालित करेगी कि हमने जिस अमृतत्वको पाया है उसके अधिकारी सभी मनुष्य हो सकें। हमारी व्यक्तिगत सिद्धि-का लक्ष्य है विश्वमानवकी सिद्धि।

यही है पूर्णयोग। मनुष्यका जो स्थूल जीवन है, व्यक्ति-रूपमें, जाति-रूपमें, विश्वमानव-रूपमें जो उसके ऐहिक प्रयास हैं उन सबको दिव्य भावसे भर देना होगा, एक विराट् विशाल आध्यात्मिक प्रतिष्ठानके अन्दर इन सबको अखण्ड सामञ्जस्यमें आबद्ध, पुष्ट करना होगा। यही महान् आयास होगा समस्त व्यक्तिगत, समस्त समष्टि-गत साधनाका लक्ष्य और परिणाम।

और यही है उस आन्तरिक स्वर्गराज्यका प्रतीक बाहरका भी स्वर्गराज्य, पृथ्वीपर वह सत्ययुग जिसको

कल्पना सभी देशों और सभी युगोंके ऋषि, कवि, साधक करते आ रहे हैं। और आज हम इस नवीन युगके साधक भी, हम लोग भी जो यह देखते हैं कि भगवान्ने अपनेको जगत्, मनुष्य और मनुष्य-जातिके अन्दर छिपा रखा है, इसी कल्पनाको कार्यमें परिणत करनेकी चेष्टा करते हैं—यही तो है मनुष्यकी एकमात्र उपयुक्त साधना।

पूर्णयोग

द्वितीय भाग

विज्ञान

(१)

साधनाका अर्थ है ऊपर उठनेकी चेष्टा करना । सिद्धिका अर्थ है ऊपर उठकर, ऊपरसे ही सब कुछ करते रहना।

अब पहली बात यह है कि इस ऊपर उठनेका अर्थ क्या है ।

शरीरका एक भारकेन्द्र होता है। इस भारकेन्द्रकी टान या झुकावके द्वारा—एक इसीके संपर्कके कारण—खड़े होने, चलने-फिरनेकी साधारण गति नियंत्रित होती है। बच्चा जब चलने सीखता है—उठता है, हिलता है, एक पग चलता है, बैठ जाता है—तब वह अपने इस भारकेन्द्रका ही अवलम्बन कर अपने अंगोंमें सामञ्जस्य स्थापित करनेकी चेष्टा मात्र करता है। विभिन्न स्तरके जीवोंके आधारकी, शरीरकी जो रचना भिन्न-भिन्न प्रकारकी हो गयी है वह भी इस भारकेन्द्रके स्थान-परिवर्तनके अनुसार ही हुई है। पशुके उच्चांगसे निम्नांग भारी होता है, उसका भारकेन्द्र इस निम्नांगकी ओर ही होता है, इसीलिये उसकी सारी देह नीचेकी ओर झुक गयी है, उसे सहारा लेना पड़ा है चार पैरोंका। किन्तु मनुष्यके निम्नांगसे उच्चांग भारी होता है, इसलिये उसका भारकेन्द्र है उच्चांगकी ओर और इसीलिये उसे सिर ऊंचा कर, सीधे

होकर खड़ा होनेके लिये उसे इस उच्चांगके भारकेन्द्रके साथ ताल बनाये रखना पड़ता है। उद्भिदका भारकेन्द्र आरंभमें पशुके भारकेन्द्रसे भी नीचे होता है–एकदम जड़के समीप होता है, उसके बढ़नेके साथ-साथ यह भारकेन्द्र जैसे-जैसे दूर हटता जाता है, वैसे-वैसे अधिक जोरके साथ उसे मिट्टीको पकड़े रखना पड़ता है—उद्भिद मनुष्यकी तरह सीधा होकर खड़ा होता है, किन्तु वह खड़ा ही रहता है–वह अचल होता है।

जिस तरह शरीरका भारकेन्द्र होता है, उसी तरह अन्तः-करणका भी एक भारकेन्द्र होता है। और केवल इतना ही नहीं, हम यह भी कह सकते हैं कि इस अन्तःकरणके भार-केन्द्रकी ही प्रतिच्छबि शरीरके ऊपर पड़ी है, उसीने शारीर केन्द्रका स्थान निश्चित किया है। शरीरका केन्द्र एक दृष्टिसे अन्तःकरणके केन्द्रका प्रतीक (symbol) है और एक दृष्टिसे प्रतिष्ठा या स्थाननिर्देश (localization) है या दोनों ही है। पशुके अन्तःकरणका केन्द्र प्राणमें होता है—नाभि-स्थानमें होता है, मनुष्यके अन्तःकरणका केन्द्र मनमें—मस्तिष्कमें होता है। बानरके अन्तःकरणका केन्द्र प्राण और मनके बीचोबीच होता है—मस्तिष्क और नाभी इन दोनोंके बीच चढ़ता-उतरता रहता है; इसीलिये बानरमें मनुष्य और पशु दोनोंका धर्म और प्रकृति दिखायी देती है, मनुष्यकी कुछ बुद्धि भी उसके होती है और पशुका भोग

और कर्मसामर्थ्य भी होता है, पशुकी तरह कभी झुककर चारों पैरोंपर चलता है या कभी मनुष्यकी तरह सिर उठाकर दो पैरों-का सहारा लेकर चल सकता है। दूसरी ओर उद्भिद्के अन्तःकरणका केन्द्र अन्तःकरणके बाहर स्थूल देहमें होता है। इसीलिये उद्भिद्को मिला है जड़का धर्म, अचलता; अन्तः-करण होनेपर भी उद्भिद होता है अन्तःसंज्ञ—गुप्तचेतन।

इस तरह मोटे तौरपर हम आधारके तीन केन्द्र देखते हैं। इन तीनों केन्द्रोंने एकके बाद एक तीन क्षेत्रोंकी सृष्टि की है; प्रकृतिके विवर्तनके एकके ऊपर एक विन्यस्त तीन स्तरोंकी रचना की है—देह, प्राण और मन—उद्भिद, पशु और मनुष्य।

यहांपर प्रसंग उद्भिद या पशुका नहीं है, बल्कि मनुष्य-का है, अतएव हम मनुष्यकी ही बात करेंगे। मनुष्यके समूचे आधारका भारकेन्द्र मनमें अथवा जहां-कहीं भी क्यों न हो, उसमें ये तीनों ही केन्द्र प्रस्फुटित और जाग्रत रूपमें हैं। जो केन्द्र उसकी केवल देहको परिचालित करता है, देहके धर्मानुसार उसे नियंत्रित करता है उसका क्षेत्र या शारीर संस्थान है शरीरके अधोभागसे लेकर नाभीतक, प्राणकेन्द्रका क्षेत्र है नाभीसे लेकर हृत्पिंडतक और मानस-केन्द्रका क्षेत्र है हृत्पिंडसे लेकर मूर्द्धातक।

इन सब बातोंका अर्थ समझनेके लिये हमें सबसे पहले देह, प्राण और मनका कुछ विशद् अर्थ समझना होगा।

और यहांपर यह बात भी कह देना आवश्यक है कि वास्तवमें देह, प्राण और मन कोई एकसे एक पूर्ण पृथक् चीजें नहीं हैं, केवल उन तीनोंसे गठित चीजोंमें एककी अपेक्षा दूसरे-की प्रधानता है। देह हम उसे कहते हैं जिसमें प्राण और मनकी क्रिया सुप्त, अर्द्धसुप्त या गौण होती है; प्राण उसे कहते हैं जिसके द्वारा शरीर अधिकृत होता है; और जहां मन अर्धस्फुट अथवा अस्फुट होता है; और मन उसे कहते हैं जिसका अधिकार देह और प्राणके ऊपर होता है। परन्तु इस बातको अभी यहीं रहने दें। शरीर है भोगका आयतन, प्राण है शक्तिका आयतन और मन है चिन्तनका आयतन। देहके अन्दर मनुष्यका आहार और मैथुन है, प्राणके कारण मनुष्यमें कर्म करनेकी प्रवृत्ति होती है और मनके कारण मनुष्य ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयास करता है। मनुष्य सबसे पहले शरीरको बचाये रखना चाहता है, ग्रहण और वर्जनके द्वारा शरीरके अन्दर एक प्रकारके सामञ्जस्यकी व्यवस्था कर उसे सरस बनाये रखना चाहता है, इसके बाद वह खेलना-कूदना, चलना-फिरना, काम-काज करना, आवेग-उत्तेजनाके द्वारा अपनेको सतेज बनाना चाहता है और इसके अतिरिक्त उसमें एक कौतूहल है, वह देखना, सुनना, जानना, समझना चाहता है—अपनेको जाग्रत करना चाहता है। मनुष्यकी भोगैषणा, कर्मैषणा और ज्ञानैषणा—इन तीनों वृत्तियोंके क्षेत्र क्रमशः देह, प्राण और मन हैं; ये तीनों

वृत्तियां और इन तीनों वृत्तियोंके ये तीन लीला-क्षेत्र मनुष्यके अन्दर हैं।

किन्तु मनुष्य अपने मनके कारण, ज्ञानैषणाके कारण मनुष्य है। सजग होने, अपनेको जाननेका प्रयास करनेके कारण ही मनुष्यका उद्भव हुआ है। अपनेको जानना अर्थात् सभी क्षेत्रोंका परिचय प्राप्त करना—गीताके शब्दों-में, क्षेत्रज्ञ होना ही मनुष्यकी साधनाका आरंभ है। मनुष्य और इतर सृष्टिके बीच अन्तर ही इस आत्मबोधका है—मनुष्यमें है अपने विषयमें चेतना (self-consciousness), पशुमें है केवल चेतना और उद्भिदमें यह चेतना भी गुप्त है, सुप्त है। मन-बुद्धिका विशेष धर्म ही है यह आत्मचेतना।

मनुष्य जितने अंशमें आत्मचेतन—क्षेत्रज्ञ—होता है उतने ही अंशमें वह उन्नत होता है, अपनी साधनामें उतना ही सिद्ध होता है। तब प्रश्न यह है कि इस आत्मचेतना-का अर्थ क्या है। आत्मचेतनाका अर्थ है भीतरमें एक प्रकारका अलगावका भाव (aloofness), एक प्रकारका विभा-जन (dissociation), ज्ञाता-ज्ञेयमें संबंध स्थापित करना। 'मैं जानूंगा' इस प्रयासमें ही है जाननेकी वस्तुसे अपनेको पृथक् कर लेनेका प्रयास। अतएव पहले चाहिये 'मैं' का ज्ञान, ज्ञाताकी उपलब्धि। इसी कारण सभी मनीषी, सभी सिद्ध पुरुष साधकोंको सबसे पहले यह उपदेश देते आ

रहे हैं कि अपनेको जानो—know thyself—आत्मा-वैकं जानथ ।

अब प्रश्न है कि अपने आत्माका पता हमें किस प्रकार और कहां मिल सकता है। इस बातको हम तभी समझ सकते हैं जब हम यह समझ जायं कि साधारणतः हम सब समय उस चीजको क्यों नहीं देख पाते। 'मैं' का बोध मनुष्यके लिये बिलकुल सहज, स्वाभाविक चीज है—सभी भावों, विचारों और कार्योंके साथ-साथ उसके अन्तरमें एक पृथक् सत्ताकी चेतना होती है जहां वे सभी भाव, विचार और कर्म अपना एकत्व प्राप्त करते हैं, जिसके साथ वे सब ग्रथित हैं सूत्रे मणिगणा इव—सूतमें मणियों-की तरह। यह जो भीतरका 'मैं'-बोध है वह जाग्रत चेतना-में सब समय नहीं रहता, और इसका एकमात्र मूल कारण है चांचल्य—भावका चांचल्य, विचारका चांचल्य, कर्म-का चांचल्य। भाव, विचार और कर्ममें विक्षोभ, आलोड़न होनेके कारण भाव, विचार और कर्मके पीछे जो एक स्थिर 'मैं' की सत्ता है वह प्रस्फुटित नहीं होती। भाव, विचार और कर्ममें हम मत्त हो जाते हैं, अपने-आपको खो देते हैं। फिर विचारकी चंचलताका एक और विशेष रूप है। कभी-कभी विचार इस 'मैं' को पकड़ना या समझना चाहता है। परन्तु वह विश्लेषण करके, बालकी खाल निकालकर खोजना चाहता है। प्याजके छिलकेको खोलते-

खोलते वह अन्तमें प्याजको ही नहीं पाता—बनमें जाकर वह केवल पेड़ ही देखता है, बन उसे दिखायी ही नहीं पड़ता। आंखके बहुत समीप ले जाकर वह चीजको देखना चाहता है, इसी कारण चीज उसके लिये बहुत धुंधली हो जाती है।

अतएव सबसे पहले आवश्यकता है आधारकी एक अचंचल, स्थिर, साम्य अवस्था। निर्मल प्रशान्तिके अन्दर 'मैं' की सत्ता, आत्मचेतना स्पष्ट रूपमें खिल उठती है। इसीसे पतञ्जलि कहते हैं—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्—चित्तके विक्षोभको शान्त करना ही योग है, उस समय साधक द्रष्टारूपमें अपने निगूढ़ स्वरूपको देखता और उसीमें प्रतिष्ठित होता है। अवश्य ही हम यह नहीं कहते कि आधारके सभी खेल एकदम बंद कर दो; आरंभिक अवस्थामें अथवा उसके बाद कभी-कभी संभव है इसकी कोई आवश्यकता पड़े, किन्तु असली बात है भीतरकी एक साम्यकी, शान्तिकी, समताकी वृत्ति, अवस्था अथवा विकारकी गाढ़ी, घनी सत्ताको फैलाकर मानो कुछ पतला कर देना। विचार, भाव और कर्म मानो बाहर-ही-बाहर चलते रहें, पर उनकी दूसरी ओर, भीतरकी ओर बनी रहे एक प्रकारकी प्रसन्नता, निश्चलता, निस्तब्धता; तो ही भीतरकी 'मैं'-सत्ता धीरे-धीरे निथर आयेगी, इन सबसे अपनेको अलग कर प्रस्फुटित हो उठेगी।

इसी 'मैं' का दूसरा नाम जीव या पुरुष है। यह जीव या पुरुष जब दिखायी देता है, हमारे अन्दर जब यह 'मैं'-चेतना जगती है तब विशेष रूपसे निरीक्षण करनेपर या ध्यान देनेपर एक गुप्त बात सहज ही दिखायी पड़ जाती है। उस समय यह दिखायी पड़ता है कि यह जीव या पुरुष अथवा 'मैं' पहले जिन केन्द्रोंकी बात हम कह आये हैं, उनमेंसे एकको पकड़े रखता है अर्थात् जीवको, पुरुषको या 'मैं' को हम अनुभव करते हैं उनमेंसे किसी एक केन्द्र-में। जिस समय जिस प्रकारकी वृत्ति जगती है उस समय पुरुष भी उसीके अनुयायी केन्द्रमें आश्रय ग्रहण करता है। जिस समय शारीरिक भोगकी प्रेरणा उठती है उस समय हम अनुभव करते हैं मानो हम आधारके प्रथम या निम्नतम क्षेत्रमें विचरण करते हैं—पुरुष या जीव नाभी-केन्द्रके नीचे है। फिर आवेग, उत्तेजन, उद्दीपनके समय हम अनुभव करते हैं कि हम मानो हृत्पिंडके क्षेत्रमें हैं—पुरुष ऊपर उठकर द्वितीय केन्द्रमें आ गया है। उसके बाद जब हम सोचते हैं, विचार करते हैं तब हम अनुभव करते हैं कि विचार, वितर्क, ध्यान, धारणा सब कुछ मस्तिष्कमें चल रहा है; पुरुष तृतीय क्षेत्रमें, तृतीय केन्द्रमें उठ आया है। भोग, कर्म और चिन्तनके साथ-साथ आधारके अन्दर 'मैं' या पुरुष या जीव इस प्रकार चढ़ता-उतरता रहता है। अथवा दूसरी ओरसे देखनेपर हम कह सकते हैं कि यह

जीव या पुरुष जिस समय जिस केन्द्रमें अधिष्ठित होता है उस समय मनुष्य भी उसी प्रकारके भावों और प्रवृत्तियोंसे अनुप्राणित होता है ।

हम कह चुके हैं कि मनुष्य इस कारण मनुष्य है कि उसका केन्द्र मस्तिष्कमें है—उसके भीतरका पुरुष उसके अन्य दो केन्द्रोंमें दिखायी देनेपर भी, सदा सामान्य कारण होते ही उस तृतीय केन्द्रमें चला जाता है । मनुष्यमें जो अपने-आपको देखनेकी वृत्ति है वह उसके उसी तृतीय केन्द्रका स्वाभाविक धर्म है । केवल देहमें, केवल प्राणमें वह अब नहीं रह सकता, क्रमपरिणति या विवर्तनके फलस्वरूप इन दोको वह पार कर चुका है, वह उठ चुका है मनके, बुद्धिके अन्दर, उसके पुरुषका स्वाभाविक आवास नाभीके नीचेके क्षेत्रमें नहीं है, हृत्पिंडके नीचेके क्षेत्रमें भो नहीं है—उसका निवास है हृत्पिंडसे ऊपर मस्तिष्ककी ओर । इस ऊपर उठनेमें ही मनुष्यकी उन्नति है ।

मनुष्यकी स्थिति है मन-बुद्धिमें—मस्तिष्कमें । शारीरिक आवश्यकताएं, प्राणके आवेग या प्रेरणाएं जो विधान देती हैं, जो आकार देती हैं उससे मनुष्य कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता । अन्य जीव उससे सन्तुष्ट हो सकते हैं पर मनुष्य नहीं हो सकता । मनुष्यकी नीति–धर्म-नीति, कर्मनीति, समाजनीति, उसकी शिल्पकला-नीति–सब कुछ इसी एक नवीन विधानका प्रयास है । उसका पुरुष

मूर्द्धदेशकी ओर उन्मुख हो रहा है, इसीलिये उसके अन्दर इस तृतीय लोकस्थ पुरुषकी ही अनुप्रेरणासे उसके आधारको, प्रतिष्ठानसमूहको गढ़नेकी एक सचेतन चेष्टा चल रही है।

किन्तु किसी एक स्तरमें पक्का हो जानेके लिये आवश्यकता है उससे ऊपरके स्तरमें उठ जानेकी—निम्न स्तरको अधिगत करनेके लिये जरूरत है उच्च स्तरमें प्रतिष्ठित होनेकी। अतएव मनुष्य यदि मन-बुद्धिमें ही वास्तवमें प्रतिष्ठित होना चाहे तो फिर उसे मन-बुद्धिसे ऊपरकी एक वृत्तिका आश्रय ग्रहण करना होगा। मस्तिष्कको यदि वह शुद्ध करना चाहे तो उसे अपने केन्द्रको ले जाना होगा, अनुभव करना होगा मस्तिष्कके ऊपरके एक स्थानमें। मन-बुद्धिसे ऊपर एक वृत्ति है, इस बातको आज बहुतसे लोगोंने मानना आरम्भ कर दिया है। परन्तु केवल मान लेनेसे ही काम नहीं चल सकता, मन-बुद्धिके अन्दर उस वृत्तिकी एक अस्पष्ट क्रिया होने देनेसे ही विशेष कुछ लाभ नहीं हो सकता। उसके लिये एक साधनाकी जरूरत है, एक सज्ञान प्रयासकी आवश्यकता है। इस प्रयासकी स्थूल मूर्त्ति है अपनेको, अपनी जीव-सत्ताको सिरके ऊपरके एक केन्द्रमें ले जाना—यह अनुभव करते रहना कि अब हम देहमें, प्राणमें और मनमें भी नहीं हैं—आधारके अधोभागमें, मध्य भागमें, यहांतक कि उत्तम भागमें भी नहीं हैं—हम हैं आधारके बाहर, ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर—तुरीय लोकमें।

इसीको जब हम अपनी सत्ताका—अपने जीवका स्वाभाविक भारकेन्द्र बना लेंगे, जब हम स्पष्ट रूपमें यह अनुभव करेंगे कि हम अपने सभी कर्मों, भोगों और विचारोंके समय भी यहींपर स्थित हैं, प्रतिष्ठित हैं, तब हम देखेंगे कि एक ग्रन्थी टूट गयी है, एक नया जीवन, नया जगत् हमारे अन्दर और बाहर सृष्ट हो रहा है।

हमारे योगशास्त्रोंमें जो षट्चक्रकी बात कही गयी है तथा षट्चक्र भेद करनेका नाम ही जो योगसाधना बतलाया गया है उसे हम अब सहज ही समझ सकते हैं। हमने जिसे केन्द्र कहा है वही है चक्र—-एक चक्रसे दूसरे चक्रमें चले जाने और अन्तमें ब्रह्मरन्ध्रसे ऊपर सहस्रारचक्रमें मिल जानेको ही उन्होंने सिद्धि कहा है।

मनुष्य साधारण अवस्थामें यह अनुभव करता है मानो वह शरीरके, स्थूल आधारके अंदर है; इस अवस्थासे ऊपर उठकर उसे यह अनुभव करना होगा मानो वह शरीरके बाहर, सिरके ऊपर है। ब्रह्मरंध्रसे ऊपर एक स्तर या केन्द्र है जो अतीन्द्रिय, अतिमन (supermind) या विज्ञानमय लोक है। इसी स्तरमें हमें अपनी मूल चेतनाको प्रतिष्ठित करना होगा, इसी केन्द्रमें हमें अपने 'अहं'-बोधको ऊपर उठा ले जाना होगा। हर समय सभी भावों, विचारों और कर्मोंमें यह अत्यन्त जाग्रत रूपसे अनुभव करना होगा मानो हम शरीरके अन्दर नहीं हैं, हम स्थित हैं शरीरके बाहर, सिरके ऊपर उस विज्ञानमय लोकमें।

हम जिस समय अपने आधारके अन्दर रहते हैं उस समय उसी चेतनाके अनुसार हमारा आधार, हमारी वृत्ति, हमारी प्रकृति, हमारा स्वभाव, यहांतक कि बाहरका प्रतिष्ठान-समूह भी संगठित होता है––इन्हें एक प्रकारका विशेष रूप प्राप्त होता है, जो वर्तमानका, सर्वसाधारणका रूप है, जिसे स्वाभाविक अवस्था (natural state) कहा जा सकता है। योगीका लक्ष्य होता है इस स्वाभाविक अवस्थाके स्थानमें तुरीय अवस्थाको स्थापित करना, अर्थात्

शरीरके बाहर विज्ञान-लोकमें पहुंचनेपर चेतनाका जो स्वरूप होता है, उसके द्वारा आधारको, जीवनको, जगत्को नये रूपमें गढ़ना, सजाना।

यह तुरीय या विज्ञानलोक ही आरोहणक्रमका अन्त नहीं है, इसके भी ऊपर है अनन्त—सत्-चित्-आनन्द। जीवकी परमा दृष्टि और गति है विज्ञानमय लोकको भी पार कर आनन्दमय, चिन्मय और सन्मय लोकोंमें प्रतिष्ठित होना। वास्तवमें स्थूल आधारको परिधि या सीमा बनाकर उसके भीतर जो हम जीवको स्थापित करते हैं, यह हमारी अज्ञानता है–पुरातनका, संस्कारका, अभ्यासका फलमात्र है। वास्तवमें हमारा आधार केवल शरीर नहीं है, वह शरीरके परे भी है, वह अनन्त रूपमें फैला हुआ है। शरीर हमारे आधारका एक अङ्ग है, स्थूलतम, निम्नतम स्तरमात्र है। आधारके ऊर्ध्वसे ऊर्ध्वतर स्तरमें, केन्द्रमें अपने 'अहं' को, मूल चेतनाको ले जाना ही उन्नति है, योगसाधना है।

परन्तु मस्तिष्ककी, स्थूल आधारकी जो सीमा है, वह जीवकी क्रमोन्नतिके लिये एक प्रकारका संकटस्थान है–इसको पार करते ही जीव एकदम एक नये प्रकारके राज्यमें पहुंच जाता है। उस समय ऐसा मालूम होता है मानो सारी सृष्टि उलट गयी है—वर्तमान अवस्थामें हम देखते हैं कि मनुष्य पैरोंके बल ऊपरकी ओर खड़ा है, उसकी वृत्ति, उसकी गति सब कुछ ऊर्द्धमुखी है। उसकी चेतना,

उसकी ईषणा ऊपरकी ओर अपनी शाखा-प्रशाखा फैलाये हुए है; परन्तु उस समय हम देखते हैं 'ऊर्द्ध्वमूलोऽवाक्-शाखः'—सिरके ऊपर विज्ञानलोकमें जब हम खड़े होते हैं तब हम देखते हैं कि यह विज्ञानमय लोक ही मूल है, उसीने नीचेकी ओर अपनी शाखा-प्रशाखा फैला दी है जिसका फल यह स्थूल आधार है। स्थूल आधारके, स्थूल मिट्टीके सभी स्थूल खेल—विचार, भाव, कर्म—सब मानो ऊपरके केन्द्रसे निकल रहे हैं, मानो नीचेका यह सब कुछ उसीकी छाया, प्रतिमूर्ति, प्रतिध्वनि है। साधारण जाग्रत जीवनमें हमारा व्यक्त आधार स्वाधीन, स्वतन्त्र, स्वप्रतिष्ठसा प्रतीत होता है, परन्तु उस समय हम यह देखते हैं कि यह तो केवल एक यन्त्र, एक कठपुतलीमात्र है, इस यन्त्रको, इस कठपुतलीको चलानेकी चाभी तो उसी तुरीयमें है। केवल इतना ही नहीं, उस समय हम यह भी देखते हैं कि इस आधारको, आधारकी गठनको, संस्कारसमूहको जो हम कठिन, सुदृढ़, सनातन समझते थे, वह कितना बड़ा भ्रम था—वास्तवमें आधार तो छायामय, वाष्पमय है, कितना नमनीय है, चाहे जैसा इसे गढ़ लिया जा सकता है।

यहां (विज्ञानमय लोकमें) पहुंच जानेपर ऐसा मालूम होता है मानो एक ग्रन्थि टूट गयी है, सत्ता मानो प्रसारित होकर असीम हो गयी है, हम मानो विश्वभरमें

छा गये हैं। उस समय न तो कोई भय रह जाता है, न संशय, न द्वन्द्व, न संघर्ष। उस समय हम अपनी वास्तविक सत्ता, अखण्ड ज्ञान, अमोघ शक्ति, अमिश्र आनन्द पा जाते हैं; उस समय विश्वकी समस्त वस्तुओंके साथ हमारा केवल पारस्परिक सम्बन्ध ही नहीं होता, प्रत्युत हम सबके साथ, प्रत्येकके साथ एकात्म हो जाते हैं। इसीका नाम है मुक्ति, जीवन्मुक्ति।

हम कह चुके हैं कि विज्ञानके ऊपर है सच्चिदानन्द। सिरके ऊपरसे विज्ञानका क्षेत्र आरंभ होता है, वह क्रमशः अधिकाधिक उदार और बृहत् होता हुआ अंतमें असीम आकाशमंडलकी तरह सच्चिदानन्दमें, अनन्तमें जाकर मिल जाता है। इस अनन्तमें 'बहु' नहीं है, जो कुछ विशेष है वह सब यहां लुप्त हो गया है, यह अनिर्वचनीय है, 'एकम्' 'अद्वैतम्' है। यहां पहुंच जानेपर जीव केवल शरीरातिरिक्त ही नहीं, बल्कि वह शरीरविनिर्मुक्त भी हो जाता है, कैवल्य-मुक्ति पा जाता है। उसी एक अद्वैत अनन्तके एक स्तर या अवस्था-विशेषको निर्वाण या लय कहते हैं।

यह असीम अनन्त, सत्-चित्-आनन्द ही सृष्टिका, मनुष्यका मूल उद्गमस्थान है—सबके ऊपर, सबके पीछे रहकर यह सबको धारण किये हुए है। परन्तु यह अनन्त चरम साम्य, निर्विकार, अरूप है। रूपका विकास, सृष्टिका, नानात्वका आरंभ तब हुआ जब यह अनन्त नीचे विज्ञान-

मय लोकमें उतरा या आकर प्रकट हुआ; प्रकाश या सृष्टि मानो अनन्तका अवतरण है। आकाशसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे मूर्द्धा, मूर्द्धासे हृदय, हृदयसे नाभी, नाभीसे उपस्थ—इस प्रकार एक केन्द्रसे दूसरे केन्द्रमें, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें क्रमशः प्रकटित होता आ रहा है सच्चिदानंद, विज्ञान, मन-बुद्धि, चित्, प्राण और देह। इस प्रकार अवरोहण-पद्धतिसे सृष्टि उत्पन्न हुई है और फिर यह सृष्टि उसी एक पथसे, आरोहण-पद्धतिसे, ऊपरकी ओर जा रही है। सृष्टिका विवर्तन, मनुष्यकी उन्नति है सृष्टिके निगूढ़ क्रमको पुनः बाहरकी ओरसे उलटकर अंदरकी ओर ले जाना।

परन्तु आरोहणमें दो बाधाएं हैं—अवश्य ही मनुष्यके लिये। हम कह चुके हैं कि मनुष्यका केन्द्र, उसका प्रधान प्रतिष्ठा-क्षेत्र है मन-बुद्धि, मूर्द्धा—उसकी उन्नति या उसके ऊपर उठनेका अर्थ है मन-बुद्धिको अतिक्रम करना, मूल चेतनाको, अपने अस्तित्वके, 'अहं' के केन्द्रको मूर्द्धाके ऊपर प्रतिष्ठित करना। अब, प्रथमतः मनुष्य जब शरीरातिरिक्त प्रतिष्ठानकी प्रथम चेतना या अनुभवको प्राप्त करता है तब एकदम नये प्रकारकी एक चीज अपने वृहत्के, महत्के आलोक, आनन्द और शक्तिसे उसे अभिभूत कर लेती है; उस समय मनुष्य यह समझता है कि उसने इस बार पूर्ण सत्यको, एकदम मूल केन्द्रको पा लिया है, इतने दिनोंतक शरीरके अंदर जो उसे अनुभव हुए थे वे

सब छायामात्र थे, माया, कृत्रिम, भ्रमपूर्ण थे। शरीरसे ऊपर उठ जानेपर वह शरीरको अस्वीकार कर देता है—शरीरके अंदर विद्यमान रहनेके समय उसने जो एक धर्म, बंधन, शृङ्खला पायी थी, शरीरसे बाहर चले जानेपर उसे सबसे पहले इनमें केवल एक प्रकारका विरोध, असामंजस्य ही दिखायी पड़ता है। उस समय मनुष्यको आकाशके, अनन्तके, अरूपके, अक्षर ब्रह्मके अंदर भाग जानेका लोभ होता है। शरीरके अंदर जीव जितने दिन रहता है उतने दिन जैसे नीचेकी ओर जानेकी ही उसकी एक स्वाभाविक गति होती है, वैसे ही एक बार शरीरसे बाहर चले जानेपर उससे विपरीत दिशाकी ओर, एकदम चरम ऊपरकी ओर उठ जानेकी उसकी एक स्वाभाविक गति हो जाती है।

परन्तु ऊपरका सत्य नीचेके सत्यसे अलग नहीं है, अनन्त आकाश पृथ्वीकी ओरसे मुंह फेरकर (Convex) दूर नहीं चला गया है, वरन् वह पृथ्वीको घेरे हुए, पृथ्वीकी ओर ही झुका हुआ (Concave) है। इस अनन्तका केन्द्र (Focus) है विज्ञान; विज्ञानसे ही मूल सृष्टिका प्रसार आरंभ हुआ है। अनन्त जहां नीचे उतरकर विज्ञानके अन्दर प्रकट हुआ है, वहां पृथ्वी भी उसी विज्ञानके अन्दर अनन्तके साथ संयुक्त हुई है। शरीरके अंदरकी जो लीला है, वह एकदम असत्य या भूल नहीं है। शरीरका चालक विज्ञान है, शरीरके धर्म-कर्मके जो मूल प्रकार

(Types) हैं, वे सब विज्ञानमें हैं; परन्तु जबतक जीव शरीरके अन्दर रहता है, तबतक उसकी दृष्टि ठीक मूल स्थानसे न आनेके कारण उसके शरीरमें, शरीरके धर्म-कर्ममें विकृति दिखायी देती है। परन्तु शरीरसे ऊपर चले जानेपर हम देखेंगे कि हमारी दृष्टि सहज और सरल हो गयी है, शरीरके, अन्तरके धर्म-कर्म भी सहज और सरल होते जा रहे हैं।

विज्ञानमय लोकका सत्य सहज, सरल है, मन-प्राण-अन्नमय लोकका सत्य उसी विज्ञानमय लोकके सत्यका विकृत, कुटिल प्रतिरूप है। विज्ञान अनन्तकी, सच्चिदानन्दकी साक्षात् अभिव्यक्ति है, इसलिये जैसे अनन्त, सच्चिदानन्द सत्य है, वैसे ही विज्ञान भी सत्य है। परन्तु सच्चिदानन्दमय जीवने विज्ञानको पार कर ज्योंही शरीरमें प्रवेश किया त्योंही जीवके सामने एक पर्दा पड़ गया, और इसलिये उसी समय गौण प्रकाशका खेल—अज्ञानका, अर्द्ध ज्ञानका खेल आरंभ हो गया। जीवका काम है अपनेको उस विज्ञानमय लोकमें ले जाकर, जाग्रत रखकर शारीर धर्मको, मन-बुद्धि, चित-प्राण और देहको रूपान्तरित करना। अनन्तके, सच्चिदानन्दके, कैवल्य मुक्तिके अंदर इन सबका निर्वाण नहीं करना होगा, क्योंकि इनकी सार्थकता निर्वाणमें नहीं है; बल्कि विज्ञानके अन्दर जो सच्चिदानंद, जो अनन्त जाग्रत, सज्ञान, साकार हुआ है, उस सत्यज्ञान, रूप और जीवनके द्वारा नीचेके समस्त आधारको, शारीर प्रतिष्ठानको गठित करना होगा।

ऊपर उठनेमें पहली बाधा या विपत्ति यह है कि ऊपर उठना आरंभ करनेपर हम एकदम ऊपर ही चले जाना चाहते हैं। अनन्तका स्वाद शुरू-शुरूमें सान्तके प्रति विस्वाद उत्पन्न करता है। आधारसे ऊपर उठ जानेपर आधार तुच्छ प्रतीत होता है, हम उसे एकदम अस्वीकार कर देते हैं। परन्तु अनन्तको पीछेकी ओर जाग्रत रखकर, सान्त आधारको सामने स्वच्छ यंत्रवत् बनाकर विज्ञानमय जीव एक प्रकारका पूर्णतर सामंजस्य पाता है, वह स्वर्ग और मर्त्य दोनोंके मिलन-स्थानपर आरूढ़ होता है। इसी सिद्धिका दूसरा नाम पूर्णयोग है।

दूसरी बाधा यह है कि जीव ऊपर उठे बिना ही, शरीरातिरिक्त हुए बिना ही, आधारके, शरीरके, आयतनके अंदर रहते हुए ही ऊपरकी सत्ताको नीचे खींच लाना चाहता है। इस सान्तके अंदर रहनेके कारण, अनन्तको पानेके लिये, सान्तको, आधारको छोड़कर ऊपर जानेमें उसे कष्ट होता है। अनेक युगोंके संस्कारवश सान्तके प्रति जो एक प्रकारका विषम आकर्षण पैदा हो जाता है उसके मानो छिन्न-भिन्न हो जानेका उपक्रम होता है, इस कारण वह इस प्रकार कुछ नर्मीके साथ अनन्तको पानेकी चेष्टा करता

है। परन्तु इससे आधारका पूर्ण रूपान्तर करना संभव नहीं होता। आधारके जितने पुराने सांचे हैं, सान्तके जितने परिचित रूप हैं, उन्हींके अंदर जीवकी बृहत्तर सत्ता आकर ढल जाती है, बंध जाती है। यदि हम किसी स्तरको बदलना चाहें तो इसके लिये यह आवश्यक है कि हम उसके ऊपरके एक स्तरमें चले जायं, किसी स्तरके अंतर्गत रहकर हजार जोर लगानेपर भी उस स्तरको पूर्ण रूपसे हिलाना-डुलाना संभव नहीं। इसीलिये पृथ्वीको कक्षच्युत करनेके लिये आर्कीमिदिसने पृथ्वीसे बाहर थोड़ोसी जगह चाही थी।

प्राचीन सभी योगमार्गोंने इसी प्रकार अनन्तको पकड़ना चाहा था। ज्ञानियोंने मस्तिष्कके अन्दर अनन्तको पकड़नेकी चेष्टा की थी, भक्तोंने हृदयके अन्दर, कर्म-योगियोंने प्राणकी कर्मैषणाके अन्दर और तांत्रिकोंने प्राणकी भोगैषणाके अन्दर उसे पकड़ना चाहा था। आधारके अन्दर इस प्रकार एक केन्द्रमें अनन्तको जो बुलाकर नहीं लाया जा सकता, ऐसी बात नहीं है, परन्तु इससे आधार-का पूर्ण रूपान्तर नहीं होता; इससे अनन्तकी उपलब्धि हो सकती है, पर अनन्तकी सिद्धि या जाग्रत प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। फलतः हम देखते हैं कि प्रचलित योगमार्गोंके साधक आधारके स्वभावको, स्वधर्मको परिवर्तित करना नहीं चाहते, उसे वे अपरिवर्तनीय ही मानते हैं। जबतक

मनुष्य-शरीर है तबतक वे नितान्त मानव-मात्रको ही स्वीकार करनेके लिये बाध्य होते हैं और जहांतक सम्भव होता है वहांतक वे उसके अन्दर अनन्तको अनुभव कर प्रतिफलित करनेकी चेष्टा करते हैं; इसीसे उनका लक्ष्य सदा ही रहा है पुरातनको नष्ट-भ्रष्ट कर फेंक देना और उसके बाद नये अनन्त रसमें डूब जाना और जो लोग अनन्तको इस मानवभावके प्रतीकके अन्दर, आधारके पुराने सांचेके अन्दर नहीं धारण कर पाते, वे अनन्तको क्षुद्र बनाकर व्यक्तिगत अहङ्कारकी सेवामें लगा देते हैं। वे आधारके ऊपर उठ नहीं पाते, आधारके अन्दर ही रहकर वे आधारातीतको खींच लाना चाहते हैं, इसलिये वह अनन्त आधारके जिस केन्द्रमें केन्द्रीभूत होता है, उसे तो वह अवश्य सतेज और शक्तिमान बना देता है परन्तु वह संकीर्ण ही रह जाता है, वह आसुरिक बन जाता है।

जीव मस्तिष्कके केन्द्रमें अवस्थित रहकर यदि उसके अन्दर तुरीयको खींच लानेकी चेष्टा करता है तो बुद्धिका प्रकाश तो तीव्र, तीक्ष्ण हो जाता है, उसके अन्दर साधारण बुद्धिकी अपेक्षा अधिक विशालता भी तो आ सकती है, परन्तु वह रहती बुद्धि ही है, अनन्त बुद्धिके ही सांचेमें ढल जाता है, बुद्धिके जितने संस्कार-कुसंस्कार होते हैं, उनका अनुमोदन करनेके सिवा हमें अनन्तका कोई और दूसरा रूप या धर्म नहीं दिखायी देता। शङ्करने जो

अनन्तको सान्तके बाहर फेंक दिया था, अरूपको जो रूपकी छायाका भी स्पर्श करने देना नहीं चाहा था, इसका कारण यही था कि उनकी उपलब्धिके मूलमें थी बुद्धिकी अटूट प्रतिष्ठा। तर्क-बुद्धिको एक और बहुके बीच किसी प्रकारका मेल नहीं दिखायी पड़ता। 'क' 'क' ही रहेगा, 'ख' नहीं हो सकता, 'ख' 'ख' ही रहेगा, 'क' नहीं हो सकता—यही तर्क-बुद्धिका सांचा है। 'क' 'ख' भी हो सकता है और फिर 'ख' 'क' भी हो सकता है, यह सांचा तर्क-बुद्धिका नहीं है। अतएव अनन्तकी उपलब्धि होनेपर भी शङ्करने पाया था बुद्धिके सांचेमें ढला हुआ अनन्त—एकरुखा, संकीर्ण अनन्त। फिर यही बात भक्तोंके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। भक्त अनन्त-को प्राप्त करना चाहते हैं हृदयमें रहकर, हृदयके अन्दर। इस कारण उनकी अनन्तकी उपलब्धि हृदयके संस्कार-कुसंस्कारके द्वारा गठित होती है। चीनी खाना ही अच्छा है, चीनी होना तो कुछ भी नहीं—यह जो भगवान् और जीवका द्वैतभाव है, यह हृदयके ही रङ्गका फल है। क्योंकि प्रेमको दोकी जरूरत होती है—यदि केवल एक ही रहे तो प्रेमका अन्त हो जाता है, यही भक्तका भय है। और हृदयके इस अति-अनुरञ्जनके कारण ही भक्तोंने भगवान्के ऊपर हू-बहू समस्त मानुषी भावोंका आरोप किया है। मान, अभिमान, कलह इत्यादिको ज्योंका त्यों

बना रखा है—केवल मनुष्यकी जगह भगवान् नामक एक पात्रको लाकर बैठा दिया है। जीव हृदयकेन्द्रमें आबद्ध हो रहा है, उसने वहीं रहते हुए, वहीं भगवान्‌को, अनन्त-को उतार लानेकी चेष्टा की है, इसलिये भगवान् भी, अनन्त भी हृदयके भावोंसे सुसज्जित होकर उपस्थित तो हुए हैं, परन्तु उन्होंने अपना स्वरूप छिपा रखा है—हृदयका और एक प्रकारका खेल, दैवी खेल भी हो सकता है, इस बातको उन्होंने जीवको नहीं समझने दिया है।

कर्मीको भी हम इसी कारण केवल प्राक्तन कर्मोंके स्रोतमें ही बहते हुए देखते हैं। तांत्रिक योगीको हम क्षुद्र सामान्य भोगमें पड़ा हुआ देखते हैं। जो कर्म नवीन कर्म है, चित्तके संस्कारपर जो प्रतिष्ठित नहीं है, बल्कि जो अनन्त-की प्रेरणापर, भागवत ईषणापर प्रतिष्ठित है, उसकी सृष्टि इस प्रकारके कर्मीके अन्दर नहीं होती। जो भोग हमारी व्यक्तिगत आवश्यकताओंके सांचेमें नहीं ढाला जाता, जो भोग केवल अनन्तका दूरस्थित आश्रय या प्रतीक नहीं है, बल्कि जिसके अंदर घनीभूत हुआ है विश्वानंद, जिसकी सार्थकता है विश्वभरको आनन्द देनेमें, जो अनन्तकी, भग-वान्‌की जाग्रत आपूर्ण धारा है, उसे केवल प्राणोंके ऊपर खड़ा होकर तान्त्रिक योगी नहीं पा सकते। इसीलिये तो गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।

"जो लोग ज्ञानके देवताकी उपासना करते हैं, वे मेरी ही एक विभूतिको प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार हृदयके देवताको, प्राणके देवताको जो लोग तृप्त करते हैं, वे मेरे ही एक ऐश्वर्यके अधिकारी होते हैं; परन्तु मुझको, पूर्ण मुझको वे ही प्राप्त करते हैं जो मुझको ही चाहते हैं।"

जीव जबतक आधारके भीतर रहता है तबतक भगवान् उसके सामने एक-एक रूप धारण करके आते हैं। क्योंकि जीव जबतक आधारके भीतर रहता है तबतक उसमें अहंकार रहता है। 'अहं'-बोधका आश्रय लेकर अनन्तने इस जीवाधारमें प्रवेश किया है और यहां अविद्याकी, मायाकी सृष्टि की है। जीव जबतक आधारमें रहता है तबतक यह अहंकार उसके साथ रहता है। इस अहंकारके घनत्वको तरल बनानेपर भी उसका एक अन्तिम रेशा तो रह ही जाता है। और कुछ न भी हो तो भी सात्विक अहंकार तो आधारके अन्दर सर्वोच्च स्तरतक रहेगा ही। इसी कारण आधारके भीतर रहकर जीवको जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह जीवके उस अहंबोध-के माप और छापके अन्दर ही आती है। पूर्ण सिद्धि, जिसकी कोई नाप-जोख नहीं है, जो जीवके स्वभावको पलट-कर नये स्वभावको उत्पन्न कर सकती है, अर्थात् अनन्त सिद्धि प्राप्त होती है आधारको छोड़कर, आधारके ऊपर उठनेपर। भगवान्‌ने जो 'माम्' कहा है, वह पूर्ण भगवान् स्वयं विराजमान हैं विज्ञानमय केन्द्रमें।

अनन्तके चरम शिखरपर, अक्षर ब्रह्ममें विलीन हो जानेकी कोई आवश्यकता नहीं; और न सान्तके, इस आधार-के कोटरमें उस अक्षरको बांधनेकी चेष्टा करनेकी ही जरूरत है। जीवको आधारसे बाहर निकलकर केवल उठ खड़ा होना होगा, अक्षरका सहारा लेकर इस क्षरको मुट्ठीमें पकड़ रखना होगा।

इस प्रकार जीव जब शरीरके परे विज्ञानमय केन्द्रमें अधिष्ठित होता है तब अनन्त अपने एक नवीन धर्मके अनुसार आधारको गढ़ता है। उस समय बुद्धिका सहज सांचा टूट जाता है, बुद्धि स्वच्छ, उदार होकर नयी ज्ञानज्योतिसे परिपूर्ण हो जाती है। उस समय हृदय अपने अनुरूप भग-वान्‌को नहीं गढ़ता, बल्कि भगवान् ही हृदयको अपने अनु-सार बनाकर उसे एक अपरूप रसके राज्यमें परिणत कर देते हैं। प्राण उस समय अपना दावा छोड़ देता है, अनन्त स्वयं छोटा होकर, सिर झुकाकर उसके अंदर प्रवेश करनेकी चेष्टा नहीं करता, बल्कि अनन्त ही प्राणको सुबृहत बनाकर उसे अपनी भोगैषणा और कर्मैषणाके क्षेत्र-के रूपमें प्रस्तुत कर लेता है।

उस समय जीवके 'अहं'-बोधके, त्रिगुणके किसी रंगसे आधार रंगा हुआ नहीं रहता। जीव त्रिगुणातीत होकर अपने पूर्ण ईश्वरत्वसे आधारको परिपूर्ण कर देता है।

यह जो विज्ञानलोक या तुरीय अवस्था है, इसका स्वरूप क्या है, इसका स्वधर्म क्या है? यह शरीरके परे है अर्थात् इसमें पहुंचनेपर यह अनुभव होता है कि हम—हमारा 'मैं' मानो आधारसे बाहर ऊपर प्रतिष्ठित है। किन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि यह शरीरसे, आधारसे एकदम अलग है, विच्छिन्न है। शरीरके, आधारके परे हम चले गये हैं—इसका अर्थ है कि हम शरीरके, आधारके प्रभु, ईश्वर हो गये हैं—शरीरके, आधारके अन्दर जबतक हम हैं, तबतक हम दास हैं, बद्ध हैं, शरीरके, आधारके गतानुगतिक संस्कार ही तबतक हमारे प्रभु और ईश्वर हैं। यह लोक, यह अवस्था त्रिगुणातीत है। परन्तु इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वह निर्गुण है—अर्थात् गुण तो वहां हैं, पर किसी गुणके अन्दर हम आबद्ध नहीं हैं; गुणोंकी जो सत्य, निगूढ़ सत्ता है वही वहां है और उन्हींकी सहायता लेकर हमारी शक्ति, भागवत शक्ति अपने इच्छानुसार खेल करती है। इसी भूमिकामें जीवको भागवत सायुज्य प्राप्त होता है, अर्थात् मनुष्यका अन्तरात्मा यहीं भगवान्में, ईश्वरमें,—एक अनन्त असीम सत्तामें, अनन्त असीम चेतनामें, अनन्त असीम शक्तिमें, अनन्त असीम

आनंदमें—मिलकर एक हो जाता है, मनुष्य केवल भीतरमें, भावमें ही भगवान्के, ईश्वरके इस स्पर्शको नहीं पाता, प्रत्युत बाहर भी, कर्ममें भी वह भगवान् ही, ईश्वर ही हो जाता है।

विज्ञानलोकका, तुरीय अवस्थाका मूल स्वरूप है अनन्त सत्ता। एक अखण्ड असीम वस्तु ही वहां है, मनुष्य निरन्तर यह उपलब्धि करता है कि वह स्वयं वही वस्तु है, उसका अस्तित्व इस वस्तुके साथ घुला-मिला हुआ है। जो कुछ है उन सबको वह उसी एककी ही सत्ताके रूपमें देखता है, जानता है, अनुभव करता है और अंगीभूत करता है। अनन्त सत्ताके साथ-साथ वहां हम अनन्त चेतना भी पाते हैं। जिसे चेतना है, जो कार्य करता है, चलता है, फिरता है, उसीको हम उस एक अखण्ड अनन्त सत्ताकी आत्मोपलब्धिके रूपमें, शक्ति या वीर्यके रूपमें देखते हैं, जानते हैं, अनुभव करते हैं, अंगीभूत करते हैं। फिर वहां अनन्त आनन्द भी है। वहां जो कुछ अनुभव करता है या अनुभूत होता है वह सब उसी एक आनन्दके विभिन्न विग्रहके रूपमें दिखायी देता है, जाना जाता है, अनुभूत होता है, अंगीभूत किया जाता है। इस अनन्त सत्ता, अनन्त चेतना और अनन्त आनन्दके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब उसी एक मूल सत्यका प्रकाश और कार्य है। वहां चिन्तन है, इच्छाशक्ति है

इन्द्रियानुभूति भी है, किन्तु वह सब उसी एक तुरीय संविद्‌के अंदर समुन्नीत और रूपान्तरित हुआ है। चिन्तन वहां सद्‌वस्तुका एक ज्योतिर्मय आधार या अंग है, शक्तिकी एक ज्योतिर्मयी धारा है, आनन्दकी एक ज्योतिर्मयी तरंग है। चिन्तनको हम वहां शून्य आकाशमें केवल एक भावके रूपमें झूलता हुआ ही अनुभव नहीं करते, वरन् इसे हम अनन्त सत्ताके साथ-साथ एक घनीभूत वस्तुके रूपमें अनुभव करते हैं, यह मानो उस अनन्त सत्ताकी, पदार्थकी ही एक दीप्त आभा हो। इच्छाशक्ति और कर्म-प्रेरणाका भी अनुभव हम वहां उसी ईश्वरकी सत्ता, चेतना और आनन्दकी एक वास्तविक क्रिया, एक वास्तविक वस्तुके रूपमें करते हैं। इन्द्रियानुभूति और चित्तावेगको भी वहां एक आध्यात्मिक रूप प्राप्त होता है, अर्थात् ये चित् और आनन्दकी एक विशुद्ध गतिधारा बन जाते हैं। यह शरीर या अन्नमय सत्ता उस समय तुरीय आत्माका जाग्रत विग्रह बन जाती है, हमारी प्राणमय सत्ता, हमारी जीवनशक्ति उसी आत्माकी जीवन-धाराका, जीवनधारणाका मुक्त प्रवाह और प्रणाली बन जाती है।

हम पहले कह चुके हैं कि जब हम मन-बुद्धिके स्तरसे ऊपर उठकर विज्ञानके स्तरमें पहुंचते हैं तब मानो ऐसा बोध होता है कि सब कुछ उलटा दिखायी दे रहा है—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्‌शाखः। इसका अर्थ यह है कि मनो-

मय सत्ता जिस प्रतिष्ठानसे, जिस मूल सत्य या स्वयंसिद्धिको लेकर अपनी अभिज्ञता और उपलब्धिके पथपर चलती है, विज्ञानमय सत्ता ठीक उसके विपरीत प्रतिष्ठानसे, अन्य प्रान्तके सत्य और स्वयसिद्धिको लेकर आरम्भ करती है। मनोमय जीव स्थूल प्रतिष्ठानसे, इन्द्रियोंकी अनुभूतिको लेकर आरम्भ करता है; विज्ञानमय जीव आध्यात्मिक प्रतिष्ठानसे, आत्माके स्वयंप्रकाश सत्यको लेकर आरम्भ करता है। मन-बुद्धि सबसे पहले इन्द्रियानुभूतिको स्वीकार करती है, देखती है, और फिर इन इन्द्रियप्रदत्त उपकरणोंको ही सजाकर विचार-वितर्ककी सहायतासे वह क्रमशः साधारणसे साधारणतर, उच्चसे उच्चतर सत्यमें पहुंचनेकी चेष्टा करती है—आत्मा, भगवान् इत्यादि जो सब मूल या चरम तत्त्व हैं उनतक मन-बुद्धि इसी तरह धीरे-धीरे सबसे अन्तमें पहुंचती है। किन्तु विज्ञानकी क्रिया ऐसी नहीं है। विज्ञान सबसे पहले ही देखता है आत्माको अर्थात् वस्तुके मूल चरम तत्त्वोंको और उस आत्माके ऊपर स्थित होकर, उन तत्त्वोंके आलोक और प्रेरणाके अनुसार विचार-बुद्धिको, इन्द्रियानुभूतिको सजा लेता और गढ़ लेता है। मन-बुद्धिके लिये आत्माका सत्य, समस्त मूल तत्त्व वस्तुशून्य पोले विचारमात्र हैं, इन सबके सम्बन्धमें बुद्धिकी उपलब्धि अथवा धारणा यह है कि इनमें कोई सार नहीं है, ये सब केवल कल्पना या रचना हैं, अनुमान-

पर स्थापित सिद्धान्तमात्र हैं। परन्तु विज्ञानके लिये ये सब सत्य, ये सब तत्त्व जाग्रत, जीवन्त वस्तु हैं——स्वतः-प्रमाणित, नित्य सत्य हैं; इन्हींका आश्रय ग्रहण कर समस्त सिद्धान्त प्रस्फुटित होते हैं। मन-बुद्धिको, सत्यके पास धीरे-धीरे पहुंचना होता है, परन्तु विज्ञान सत्यको एकदम खोलकर रख देता है। विज्ञान अर्थात् यह साक्षात्-दृष्टि केवल आध्यात्मिक सत्यको ही हमारे सामने नहीं खोलती, आध्यात्मिक हो या और किसी प्रकारकी अनुभूति, प्रतीति हो, सत्ताकी हो या चेतनाकी हो, आनन्दकी हो, शक्तिकी हो या क्रियाकी हो, पारमार्थिक हो या व्यावहारिक हो, वास्तव हो, सम्भावना हो या भविष्यत् हो——सब क्षेत्रोंके, सब स्तरोंके सत्यको ही विज्ञान उन्मुक्त कर देता है। बहुत बार हम लोगोंकी यह भूल धारणा होती है कि दिव्यदृष्टि, अपरोक्षानुभूति, तुरीय उपलब्धि सम्भवतः केवल आध्यात्मिक, पारमार्थिक अथवा उच्चतर स्तरके सत्यको लेकर ही खेला करती है; अथवा इस वृत्तिको हम इस प्रकार भी संकीर्ण कर लेते हैं कि उसको केवल 'एकमेवाद्वितीयम्' की उपलब्धिमें ही आबद्ध कर देते हैं। यही कारण है कि आध्यात्मिक और स्वाभाविक जीवनके बीच एक प्रकारका विच्छेदसा हो गया है। स्वाभाविक जीवन बन गया है प्राकृत जीवन और आध्यात्मिक जीवन हो गया है अति-प्राकृत अर्थात् कृत्रिम जीवन। किन्तु ऐसा होनेका कोई

अनिवार्य कारण नहीं है। तुरीय दृष्टिको, विज्ञान-शक्तिको हम इसी जीवनकी समस्त वस्तुओंके भीतर अभिव्यक्त कर सकते हैं। समस्त विचारोंमें, समस्त शक्तियोंमें, समस्त क्रियाओंमें जो सत्य सम्बन्ध है, उसको विज्ञान ही प्रकट करता है, सजाकर रखता है और इन सबका जो पारस्परिक सम्बन्ध है, उसको भी प्रस्फुटित करता है, तथा इन सबको एक स्वयं-प्रकाशित सामञ्जस्यके अन्दर गूंथ देता है। स्थूल इन्द्रियां जिन सब वस्तुओंको ग्रहण करती हैं, विज्ञान उन सबकी भी उपेक्षा नहीं करता, बल्कि उनको भी अपने अन्दर अन्तर्भुक्त कर लेता है, परन्तु वह उनके अर्थका निर्णय करता है उस वस्तुके आलोकसे जो उनके पीछे वर्तमान है, उनको कार्यमें नियुक्त करती है केवल वाह्य चिह्न या संकेतके रूपमें। स्थूल इन्द्रियोंका जो अपना-अपना क्षेत्र है उन सब क्षेत्रोंमें भी विज्ञान केवल स्थूल इन्द्रियोंके ऊपर ही निर्भर नहीं करता, इन्द्रियोंके विषयमें भी वह इन्द्रियोंद्वारा आबद्ध नहीं होता। विज्ञानकी अपनी भी एक सूक्ष्म इन्द्रियानुभूति है, एक भीतरी गुप्त मनकी प्रतीति है— इन्हीं सबको वह स्थूल इन्द्रियोंकी अनुभूतिके ऊपर लाकर डाल देता है। और इन सबके पीछे तो उसकी मूल उपलब्धि, सारे आध्यात्मिक, पारमार्थिक सत्य हैं ही। इसी मूलके ऊपर निर्भर कर तथा अन्य सभी स्तरोंकी अनुभूतियोंको, उपलब्धियोंको अपना अङ्ग बनाकर, अनन्तको

मिलाकर, सुसमञ्जस कर, उदार और समुन्नत कर विज्ञान एक पूर्ण ज्ञानमय जगत् उत्पन्न कर देता है।

विज्ञान केवल ज्ञानकी ही शक्ति नहीं है; वह हृदय-वृत्तिको, चित्तावेगको भी अपने अन्दर खींच लेता है, उन्हें परिवर्तित करता है उनके आध्यात्मिक वस्तुमें—उन्हें वह तुरीय चेतनाके सांचेमें ढाल लेता है। आनन्दसे ही उनकी उत्पत्ति हुई है, निम्नतर प्रकृतिके अन्दर वे आनन्द-की ही विकृति हैं—इसीलिये विज्ञान उनको उस आनन्दके ही विभिन्न भावोंमें, रसोंमें स्थापित कर देता है, विकृतिका संशोधन कर उनके वास्तविक स्वरूपको प्रस्फुटित कर देता है। वासनाके वेगको, प्राणशक्तिकी क्रियाको भी विज्ञान उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवनकी धाराके साथ मिला देता है, अन्तरात्माके वेग, तपःशक्तिकी क्रियाके भाव और पद्धतिसे गठित और परिचालित करता है। विज्ञान सबसे नीचेके इस देहबोध या शारीरिक चेतनाको घने तमसे, ठोस जड़त्वसे मुक्त करता है, तुरीय आनन्द, शक्ति और ज्योतिकी मुक्त प्रणाली, निर्मल आधार बना देता है।

साधारण जीवनमें हमारे मन-बुद्धिको लेकर जो इच्छा-शक्ति खेल रही है, वह जिस तरह कार्य करती है उसी तरह विज्ञानमय शक्ति भी कार्य करती है, वह जीवनका, कर्मका, ज्ञानका यन्त्र बनकर कार्य करती है। अवश्य ही मनका बल और विचार कार्य आरम्भ करता है बाहरके

जीवनका, स्थूल इन्द्रियोंका, जड़ जगत् जिन सब चीजोंको देता है उन सबका अवलम्ब लेकर---उसके बाद सोच-विचारकर इन सब उपकरणोंका सम्बन्ध खोज निकालता है, सबके अन्तमें और भी ऊंचे सत्यके साथ उन सबको बांध देनेकी चेष्टा करता है। परन्तु विज्ञान आरम्भ करता है आत्माकी अन्तरतम सत्ताके सत्यसे, एक आध्यात्मिक अनुभूति, साक्षात् दृष्टिकी सहायतासे उसे संयुक्त करता है मनके, प्राणके जीवनके साथ, इन्द्रिय-जगत्की चीजोंके साथ—अवश्य ही वह आध्यात्मिक अनुभूति, वह साक्षात् दृष्टि साधारण अनुभूति, साधारण दृष्टि किसीकी अवहेलना नहीं करती, बल्कि उनका वह व्यवहार करती है अपने ही यन्त्रके रूपमें। इसके अतिरिक्त, मनुष्यका जो मन साधारणतः स्थूल इन्द्रियोंके अन्दर एकदम आबद्ध है, उसकी अपेक्षा विज्ञानका क्षेत्र बहुत अधिक विशाल है, यहांतक कि जो शुद्ध बुद्धि अपने क्षेत्रमें मुक्त है, जो कार्य करती है एक सूक्ष्म मन और सूक्ष्म अनुभूतिके द्वारा, उसकी अपेक्षा भी विज्ञान बृहत्तर राज्यका सम्राट् है। और मानसिक बल और बुद्धिमें भी जो शक्ति नहीं है वह शक्ति विज्ञानमें है, मानसिक बल-बुद्धिके लिये नहीं, मात्र विज्ञानके लिये ही सम्भव है कि वह मनुष्यकी समस्त सत्ताको, उसके विभिन्न अङ्गोंको एक समन्वय, एक सामञ्जस्यमें बांध दे और आत्माके ही यन्त्र, विग्रह, जाग्रत प्रतिष्ठानके रूपमें गढ़ डाले।

विज्ञान है मनुष्यकी समग्र सत्ता, समस्त प्रकृतिकी सभी प्रवृत्तियों और प्रेरणाओंका समन्वय-क्षेत्र। साधारणतः हम देखते हैं कि मनुष्यके सभी अङ्गोंमें परस्पर वैषम्य और द्वन्द्व ही वर्तमान है। इन्द्रियां जो साक्षी देती हैं उससे विपरीत ही बात विचार-बुद्धि कहती है——आंखोंसे देखते हैं कि सूर्य पूर्वसे पश्चिम जा रहा है, किन्तु विचार करनेपर पता चलता है कि सूर्य स्थिर है, पृथ्वी जा रही है पश्चिमसे पूर्वकी ओर। फिर ज्ञानके द्वारा जो कुछ हम समझते हैं उसे कर्ममें हम चरितार्थ नहीं कर पाते——समझते हैं कि अहङ्कारसे बड़ा अन्तरात्मा है, फिर भी अहङ्कारकी बात मानकर ही चलते हैं, अन्तरात्माको पहचानते ही नहीं। कर्मकी शक्ति जहांपर रहती है या प्रयोग कर पाते हैं वहां फिर देखते हैं कि ज्ञान कुछ कम हो गया है——अज्ञानके वश तो पहाड़को उलट देने और सागरको उलीच देनेके लिये तैयार हो जाते हैं, पर ज्ञान होते ही एकदम सुन्न, निर्जीवसे हो जाते हैं। ज्ञानशक्ति और कर्मशक्तिको यदि एक साथ पावें भी तो फिर वहां सरस आनन्दका कोई पता नहीं मिलता—कठोर कृच्छ्र साधनामें मानो कोई जबर्दस्ती खींच ले जाता हो, पर हृदय उससे मानो खाली-

खाली ही रह जाता हो। हृदय अगर भर उठता है तो फिर देखते हैं कि आनन्दकी, भावकी अधिकताके कारण ज्ञान और कर्म एकदम विशृङ्खल हो जाते हैं। और जब सब कुछ ठीक रहता है तब सबके अन्तमें यह देखते हैं कि यह स्थूल शरीर उनके साथ समान तालमें नहीं चल रहा है, जरा-व्याधि, दुर्बलता, आलस्य और असुन्दरताके कारण कैसा बेतुका, उनसे अलग हो रहा है।

ये सभी गड़बड़ियां दूर होती हैं, सभी स्तरों, सारी प्रवृत्तियोंकी शुद्धि, पूर्णता और उनका सामञ्जस्य साधित होता है विज्ञान-शक्तिके द्वारा। मनुष्यके अङ्ग-अङ्गमें एक प्रकारका वैषम्य और द्वन्द्व है—यह बात सत्य है, पर वैसे ही यह भी सत्य है कि उसके अङ्गोंमें एक तरहका साम्य और सामञ्जस्य भी है। वैषम्य और द्वन्द्व सहज ही आंखोंके सामने दिखायी पड़नेके कारण उन्हें ही एकमात्र सत्य स्वीकार करनेकी इच्छा जरूर होती है, पर साम्य और साम-ञ्जस्य दिखायी न पड़नेपर भी हैं वे भी सत्य हो। भीतरमें एक प्रकारका मिलन है ही अन्यथा ये सब लड़ाई-झगड़ा, मार-काट करके भी एक साथ निवास कर रहे हैं किस प्रकार? अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि मेल कहीं भी नहीं है, एक साथ रहना जो है वह है सभी विरुद्ध शक्तियोंकी पारस्परिक खींच-तानका बकाया फल (balance), वह शुद्ध मेल या ऐक्य नहीं है, वह है सन्धिमात्र। परन्तु

यह बात है मनके स्तरकी; जबतक हम मनके ऊपर नहीं चले जाते, मनके धर्मको ही सर्वोपरि मानते हैं, तबतक वैसा ही प्रतीत होता है। फलतः मनसे ऊपर उठकर जब हम विज्ञानमय स्तरमें प्रतिष्ठित होते हैं तभी निगूढ़ निबिड़ मिलन-सूत्र हमारी दिव्य दृष्टिके सामने उद्भासित हो उठता है, हमारे जीवनकी सभी वृत्तियां उसमें ग्रथित हो जाती हैं।

कारण, हम पहले ही कह चुके हैं कि, विज्ञान सृष्टि-का, अभिव्यक्तिका केन्द्र है, मूल चक्र है। सब वस्तुओंका जो अन्तरात्मा है, जो आदि सत्ता है, जो दिव्य देह है उसीसे यह विज्ञान-लोक गठित हुआ है। अनन्तका अद्वि-तीय एकत्व यहीं आकर सबसे पहले बहुत्वमें विभक्त हुआ है, और सान्तका बहुल भिन्नत्व इसी कारण यहांपर, उपनि-षद्के शब्दोंमें, व्यूहगत हुआ है अर्थात् एकत्वको प्राप्त हुआ है। सृष्टिका जो वैषम्य और द्वन्द्व है वह वस्तुओंके बहि-रंगमें है, वस्तुओंके अन्तरात्माओंमें कोई वैषम्य नहीं है, कोई द्वन्द्व भी नहीं है। प्रत्येक वस्तुके अन्दर जो पुरुष है, जो दिव्यदेही है, उन पुरुषोंका स्वभाव और स्वधर्म भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं, वे एककी ही नाना मूर्त्तियां हैं, वे एक ही हैं। वैदिक देवता जिस तरह भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् उनमेंसे प्रत्येकका एक-एक विशेष रूप है, विशेष धर्म और कर्म है, फिर भी वे सब एक ही हैं, उन सबके सम्मिलित कार्यसे ही सृष्टि चलती है, यज्ञमें उन सबका

आवाहन करना होता है—उसी तरह विज्ञानलोकमें मनुष्यकी सभी वृत्तियां भिन्न भिन्न होनेपर भी एक ही हैं। फलतः वैदिक देवता और कुछ भी नहीं हैं, वे विज्ञान-लोककी ही विभिन्न शक्तियां हैं।

अतएव यह बात अच्छी तरह स्मरण रखना होगा कि विज्ञान एक और बहुका सामंजस्य-क्षेत्र है। इस स्तरमें पहुंचनेपर केवल एकको ही नहीं पाया जाता, बल्कि बहुत्व-के अन्दर बहुत्वको लेकर, उसका आलिंगन कर एकत्वको प्रतिष्ठित किया जाता है। मायावादी लोग जो बहुमें एकको देखते हैं वह है बहुको लुप्त करके एकको देखना। बहुको जाग्रत रख, बहुके बहुत्वके रहते हुए ही नहीं, बल्कि बहुके बहुत्वके लिये ही जो एकत्व है उसीकी सिद्धि है पूर्णयोगीका, विज्ञानके साधकका विशेषत्व। इसलिये आव-श्यकता है सब वस्तुओंके समवायमें जो एकत्व वर्तमान है केवल उसीको देखना या पाना नहीं, बल्कि प्रत्येक वस्तुका जो विशेष अन्तरात्मा या दिव्य पुरुष या अधिष्ठातृ देवता है उसे ही देखना और पाना। यह देखना और पाना तभी संभव हो सकता है जब हम स्वयं अपने अन्तरात्माको, दिव्य पुरुषको, अधिष्ठातृ देवताको देख लेंगे और पा लेंगे। और इस देखनेको भी हम तभी देखते हैं, इस पानेको भी तभी पाते हैं जब हम अपने 'हम' को उठाकर रख देते हैं विज्ञानमय लोकमें।

वस्तुओंका जो यह अन्तरात्मा, दिव्य देह या विज्ञानमय सत्ता है, उसीमें उनकी स्थूलतर समस्त प्रकृति, सभी स्तर और सारी वृत्तियां बीज रूपसे निहित हैं। मनुष्यका जो शरीर, प्राण, मन और अहंकार है अर्थात् उसकी अस्थि-मज्जा-मेद-मांसमय जड़ सत्ता है, उसका भोग और कर्मैषणा है, उसकी ज्ञान-वृत्ति और उसका आत्मबोध है, इन सब अंगोंकी या स्तरोंकी जो सत्ता है, स्वरूप है उसीके द्वारा विज्ञानमय सत्ता गठित है, और स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेके कारण यहां वे सब अंग निर्दोष, सुडौल और पूर्ण हैं, उनमें परस्पर एक-दूसरेके साथ सामंजस्य और ऐक्यका संबंध है। और केवल इतना ही नहीं, प्रत्येक व्यष्टि यहां अपनी-अपनी ज्योतिर्मय दिव्य सत्तामें केवल सिद्ध, पूर्ण ही नहीं है, वरन् यहां व्यष्टि-व्यष्टिके बीचकी पार्थक्यकी दीवाल भी टूट गयी है, सबके बीच मुक्त आदान-प्रदान चलता है, सबके अन्दर एक ही स्रोत नाना रूपोंमें अबाध गतिसे बहता रहता है।

स्थूल अभिव्यक्तिके अन्दर मनुष्य-मनुष्यके बीच, मनुष्यके अपने अन्दर जो वैषम्य, जो असंगति प्रस्फुटित हुई है, उसीके पीछे, उसीकी दूसरी ओर आधार-स्वरूप विद्यमान है वही परम, वही पूर्ण सुसंगति। यह भीतरका सत्य केवल भीतर ही रह जायगा, ऐसी बात नहीं है और न ऐसी ही बात है कि बाहरका सत्य चिरदिन बाहर ही, उसी एक ही

अध्याय ६

जलवर्षा

वायु में जो भी गैस तथा अन्य पदार्थ मिले हुए हैं उनको हम साधारण दशा में देख नहीं सकते हैं। वायु में मिली हुई वस्तुओं में केवल जल ही एक ऐसी वस्तु है जिसको वायु की दशा परिवर्तन होने पर हम देख सकते हैं। बादल, कोहरा, ओस, हिम तथा ओले इत्यादि वायु में जल की उपस्थिति के साक्षी हैं। वायु में जल की उपस्थिति से यह विदित होता है कि मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के लिये वायु न केवल श्वास लेने के लिये औषजन ही देती है वरन् जल भी। वायु को यह जल प्रायः समुद्र से ही मिलता है। इस जल के बिना समुद्र से सैंकड़ों मील दूरी पर स्थित प्राणियों का जीवन असंभव हो जाता। यदि वायु इस जल को समुद्र से न लाती तो मनुष्य को न तो पीने के लिए, न खेतों की सिंचाई के करने के लिए और न तो नदियों में नावें चलाने के लिये जल मिलता। अर्थात् समुद्र से जल लाकर वायु ने स्थल पर प्राणियों का रहना संभव बनाया है।

वायु में जल केवल वाष्प-रूप में ही रह सकता है। वाष्प बनने के लिए ताप की आवश्यकता होती है। यही ताप वायु की वास्तविक शक्ति है। वायु में जितना ही अधिक ताप होता है, उतनी ही अधिक जल की मात्रा उसमें रह सकती है। यही कारण है कि उष्ण खंड में ताप की अधिकता के कारण वायु में जल की मात्रा अधिक होती है। परन्तु शीतोष्ण खंड तथा ध्रुव के निकट, ताप की कमी के कारण, यह मात्रा कम होती है।

वायु में पाई जाने वाली जल की मात्रा समुद्र के विस्तार, तथा वायु की वहाँ तक पहुँच पर भी निर्भर है। यही कारण है कि मरुस्थलों में अथवा समुद्र से अधिक दूर वाले स्थलों में वायु में जल की मात्रा बहुत कम होती है।

वायु में रहने वाली जल की मात्रा का घनिष्ठ संबंध वायु ताप से है। किसी वायु में जल की वास्तविक उपस्थित मात्रा और उसके ताप के अनुसार जल धारण करने की मात्रा के अनुपात को "आनुपातिक आर्द्रता" (रिलेटिव ह्यूमिडिटी) कहते हैं। यह अनुपात सदा प्रतिशत अंकों में दिया जाता है। जिस समय यह अनुपात १०० प्रतिशत हो जाता है, उस समय वायु में बादल बनना आरंभ हो जाता है। मरुभूमि में यह आनुपातिक आर्द्रता बहुत कम होती है; और समुद्र के निकट अधिक। ताप तथा जल के घटने-बढ़ने पर यह अनुपात भी घटता-बढ़ता रहता है। वायु

भी अपनी हिंसक प्रवृत्ति छोड़ देंगे और हमारे साथ मित्रवत् रहने लगेंगे। जब हमारे ही अन्दर सिंह और बकरी की लड़ाई सदैव चलती रहती है तो इसमें क्या आश्चर्य है यदि शरीर रूपी संसार में भी ऐसा ही युद्ध हुआ करे। मनुष्य जीवन ही संसार के सब जीवों में आदर्श माना गया है अतः जब हम लोग अपने स्वभाव को बदल डालेंगे तो दुनियाँ के सभी जीव भी अवश्य ही अपने स्वभाव को बदल डालेंगे जो मनुष्य अपने स्वभाव को स्वयं बदल लेता है उसके लिये दुनिया बदल जाती है। ईश्वर की सृष्टि तथा हमारी प्रसन्नना का यही रहस्य है हमारी प्रसन्नता केवल हमारे ही ऊपर निर्भर करती है और इसके लिए हमें दूसरों पर अवलम्बित नहीं रहना चाहिए।

सर्पों के काटने पर उसके उपचार के विषय में लिखने की अपेक्षा सर्पों के विषय में इतना अधिक लिखने का यही कारण है कि हम लोगों का भय उनसे मिट जाय। यदि इस पुस्तक के पढ़ने वालों में से एक भी—जो मैं अब तक लिखता आया हूँ, उसके अनुसार चलेगा तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा। इसके अतिरिक्त इतने पृष्ठों के लिखने का मेरा मतलब केवल वैज्ञानिक कल्पनाओं को ही दर्शाना नहीं है, बल्कि उसके मूल-तत्व को ढूँढ़ना है और लोगों को आरोग्य-सन्देश देने पर विचार करना है।

आधुनिक आविष्कारों से भी पता चलता है कि उस मनुष्य पर, जो पूर्ण स्वस्थ है, जिसका खून गर्म है और जिसका भोजन साधारण तथा सात्विक है, साँप का जहर जल्दी असर नहीं करता। जिसका खून दूषित और भोजन सात्विक नहीं है उस पर जहर का असर शीघ्र होता है। एक डाक्टर का कहना है कि जो मनुष्य नमक नहीं खाता और जिसका मुख्य भोजन फल है, उसका खून इतना स्वच्छ होता है कि उसके ऊपर किसी भी विष